णाणुज्जोवो जोवो
जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी

9

जैनविद्या

योगीन्दु विशेषांक

महावीर निर्वाण दिवस 2515

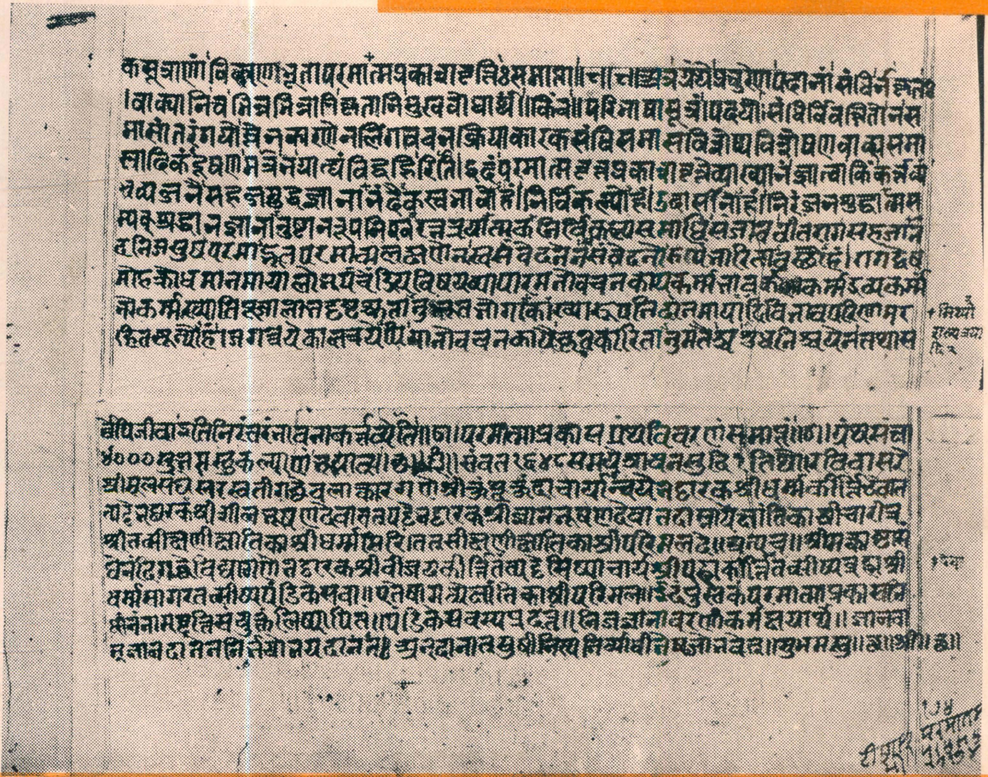

जैनविद्या संस्थान

(INSTITUTE OF JAINOLOGY)

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

मुखपृष्ठ का चित्रपरिचय

प्रस्तुत चित्र दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी के शास्त्रभण्डार में प्राप्त परमात्म-प्रकाश की सटीक प्रति के अन्तिम दो पृष्ठों का है। प्रति का आकार 28 × 12 से. मी., कुल पत्र-174। लिपि सं. 1648।

.... कसूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ॥८॥८॥ अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां संधिर्न कृतः। वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं ॥ किं च ॥ परिभाषासूत्रं। पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोस्तेन कारणेन लिंगवचनक्रियाकारक-संधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमासादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति। इदं परमात्मवृत्त-प्रकाशवृत्ते व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनै सहजसुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं। निर्विकल्पोऽहं। उदासीनोऽहं। निरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानाऽनुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधि-संजातवीतरागसहजानंदनिजसुखपरमाऽद्भूतपरमात्मलक्षणेन स्वसंवेदनेन स्वसंवेदनारूपभरिता-वस्थोऽहं। रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपंचेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायकर्म्मभावकर्म्म-द्रव्यकर्म्म नोकर्म्म ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुताऽनुभूतभोगाकांख्यारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि-विभावपरिणामरहितसून्योऽहं। जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारिताऽनुमतैश्च शुधनिश्चयेन तथा सर्व्वेपि जीवा इति निरंतरं-भावना कर्त्तव्येति ॥८॥ परमात्माप्रकास ग्रंथ-विवरणं समाप्तं ॥८॥ ग्रंथसंख्या ४००० सुभमस्तु कल्याणं भूयात् ॥ छ ॥ * ॥ संवत् १६४८ समये श्रावण सुदि १ तिथौ रविवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदा-चार्यान्वये भट्टारक श्रीधर्म्मकीर्त्ति देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री शीलभूषणदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानभूषणदेवा तदाम्नाये क्षांतिका श्री चारीत्रश्री तत्सीक्षणी क्षातिका श्री धर्म्मसिरि। तत्सीक्षणी क्षातिका श्री परिमलदे ॥ अन्य च ॥ श्रीमत्काष्ठासंघे नंदिगछे विद्यागणे भट्टारक श्री वीजय-कीर्तिदेवा तत्पट्टे सिष्याचार्य श्री पद्मकीर्तिदेवा तत्सीष्य ब्रह्मश्री धर्म्मसागर तत्सीष्य पंडिकेसवा ॥ एतेषामध्ये क्षांतिका श्री परिमल ॥ ईदं पुस्तकं परमात्माप्रकासभिधानं नाम वृत्तिसंयुक्तम् लिख्यापितं पंडिकेसवस्य प्रदत्तं ॥ निजज्ञानावरणीकर्म्मक्षयार्थे ॥ ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोभयदानतः अन्दानात् सुखी नित्यं निर्व्याधी भेषजो भवेत् ॥ सुभमस्तु ॥ छ ॥ श्री ॥ छ ॥

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक

शोध-पत्रिका

नवम्बर–1988

सम्पादक

डॉ. गोपीचन्द पाटनी | प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन

सहायक सम्पादक

पं. भंवरलाल पोल्याका | सुश्री प्रीति जैन

प्रबन्ध सम्पादक

श्री नरेशकुमार सेठी

मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

सम्पादक मण्डल

श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री नवीनकुमार बज
डॉ. दरबारीलाल कोठिया
श्री नरेशकुमार सेठी
डॉ. गोपीचन्द पाटनी
श्री प्रेमचन्द जैन
प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन

प्रकाशक

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

मुद्रक :
पॉपुलर प्रिण्टर्स,
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर ।

वार्षिक मूल्य
देश में : तीस रुपया मात्र
विदेश में : पन्द्रह डॉलर

विषय–सूची

क्र. सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
	प्रास्ताविक		
	प्रकाशकीय		
	ग्रारंभिक		
1.	कविश्री जोइन्दु व्यक्तित्व ग्रौर कृतित्व	डॉ. ग्रादित्य प्रचंडिया 'दीति'	1
2.	जोइन्दु की परमात्माविषयक धारणा	श्री राजीव प्रचंडिया	7
3.	कविमनीषी जोइन्दु का ग्राध्यात्मिक शिखरकाव्य परमात्मप्रकाश	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	13
4.	परमप्पयासु में बंध-मोक्ष सम्बन्धी विचार	श्री श्रीयांशकुमार सिंघई	19
5.	परमात्मप्रकाश-एक विश्लेषण	डॉ. गदाधरसिंह	27
6.	मूढ़मान्यता	कवि योगीन्दु	36
7.	योगसार का योग	पं. भंवरलाल पोल्याका	37
8.	कविमनीषी योगीन्दु का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	41
9.	सच्चा धर्म	कवि योगीन्दु	48
10.	योगीन्दुदेव ग्रौर हिन्दी संत-परम्परा	डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर'	49
11.	ग्रध्यात्मसाधक योगीन्दु ग्रौर कबीर	डॉ. पुष्पलता जैन	61
12.	ग्रात्मज्ञान से मुक्ति	कवि योगीन्दु	74
13.	जोइन्दु ग्रौर ग्रमृताशीति	श्री सुदीपकुमार जैन	75
14.	हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण	डॉ. कमलचन्द सोगाणी	81
15.	इस ग्रंक के सहयोगी रचनाकार		114

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान द्वारा जैन-साहित्य सर्जकों को उल्लेखनीय सृजन-योगदान के लिए प्रतिवर्ष 5001/– पाँच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रदान किया जाता है। इसी क्रम में **डॉ. जयकुमार जैन**, मुजफ्फरनगर को उनकी कृति **'पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन'** के लिए वर्ष 1987 का यह पुरस्कार प्रदान किया।

संयोजक
जैनविद्या संस्थान

प्रास्ताविक

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी की शोधपत्रिका 'जैनविद्या' का यह नवां अंक 'योगीन्दु विशेषांक' के रूप में अपभ्रंश भाषा के पाठकों, अध्ययनकर्त्ताओं व शोधकर्ताओं को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। इसके पूर्व अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न विषयों व विद्वानों के कार्य को उजागर करनेवाले आठ विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं— 1. स्वयंभू विशेषांक, 2. पुष्पदंत विशेषांक, खण्ड–1, 3. पुष्पदंत विशेषांक खण्ड–2, 4. महाकवि धनपाल विशेषांक, 5–6. वीर विशेषांक, 7. मुनि नयनन्दी विशेषांक और 8. कनकामर विशेषांक।

जैसाकि सर्वविदित है, अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन युग में एक अत्यन्त सक्षम भाषा रही है जिसके माध्यम से उस युग में जीवन से सम्बन्धित अनेक विषयों पर अमूल्य साहित्य का निर्माण हुआ है। जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो सौ-तीन सौ वर्ष पूर्व संस्कृत व प्राकृत से इतर शब्द अर्थात् अपाणिनीय शब्द के लिए प्रयुक्त होता था वही ईसा की छठी शताब्दी तक आते-आते एक सक्षम जनभाषा एवं साहित्यिक भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा के विकास-क्रम में ऐसा ही होता है। प्रारम्भिक जनभाषा (देश भाषा) विद्वानों की साहित्यिक भाषा बन जाती है। भाषा कोई भी हो उसमें समय के साथ-साथ कई परिवर्तन हो जाते हैं जिससे उस भाषा के कई भेद-उपभेद बन जाते हैं। अपभ्रंश के भी जो छठी शताब्दी से प्रारम्भ होकर कम से कम पन्द्रहवीं शताब्दी तक एक सक्षम भाषा रही है कई भेद उपभेद बन गये हैं यथा—नागर, पैशाची, व्राचड, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, मागधी, शौरसेनी आदि। प्रारम्भ में इनमें बहुत कम अन्तर था किन्तु समय के साथ-साथ रहन-सहन, प्रांतीय, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक कारणों से इनमें काफी अन्तर हो गया। जो भाषा सभी प्रकार से नियमबद्ध हो जाती है उसका विकास रुक जाता है और कालान्तर में समय के साथ वह मृतप्राय: हो जाती है। अपभ्रंश के साथ भी ऐसा ही हुआ।

वर्तमान में अपभ्रंश का पुन: अध्ययन एवं शोध कार्य प्रारम्भ हुआ है उसके मुख्यत: दो कारण हैं—प्रथम अपभ्रंश भाषा प्राय: सब ही आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं यथा-राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, लहंदा, पंजाबी, सिन्धी, मराठी, बिहारी, बंगाली, उड़िया, असमी आदि भाषाओं की जननी रही है अत: हिन्दी एवं अन्य सभी उत्तर भारतीय भाषाओं के विकास के इतिहास के अध्ययन के लिए अपभ्रंश भाषा का अध्ययन आवश्यक है। दूसरा

कारण यह है कि लोकजीवन की ऐसी कोई विधा नहीं जिस पर अपभ्रंश भाषा में नहीं लिखा गया हो। साधारण से साधारण घटनाओं तथा लोकोपयोगी विषयों यथा-दर्शन, इतिहास, पुराण, संस्कृति आदि पर अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई है। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक का अपभ्रंश साहित्य विशेषकर लोकनाट्यों में प्राप्त होता है। पूर्व मध्यकाल में अनेक प्रबन्ध-काव्य, पौराणिक महाकाव्य, चरितकाव्य, कथाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, गीतिकाव्य आदि सभी प्रकार का साहित्य अपभ्रंश में लिखा गया है। संस्कृत में कथाएँ प्राय: गद्य में लिखी जाती थीं जबकि प्राकृत और अपभ्रंश में प्राय: काव्यनिबद्ध हैं। अधिकांश अपभ्रंश साहित्य की रचना जैन विद्वानों, कवियों व मुनियों द्वारा हुई है इसी कारण यह साहित्य जैन ग्रंथागारों-भण्डारों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अपभ्रंश में अधिकांश सिद्ध साहित्य आठवीं शताब्दी से मिलने लगता है जबकि भक्ति साहित्य स्तुति-पूजा, गीतियों, चर्चरी, रास, फागु, चुनड़ी आदि लोकधर्मी विधाओं में उत्तर मध्यकाल ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से रचा गया है। लिखकर या मौखिक रूप में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को समझाने के लिए दृष्टान्त रूप में कथा कहने की प्रवृत्ति श्रमण जैन साधुओं व विद्वानों में अत्यन्त व्यापक थी इसमें उनका मूल उद्देश्य उत्तमचरित्र निर्माण का ही होता था।

अपभ्रंश भाषा में आध्यात्मिक विषयों में रचे गए साहित्य में 'परमात्म-प्रकाश' (परमप्पपयासु) एवं 'योगसार' ग्रंथों का स्थान अति उच्च है जो आचार्य योगीन्दु (जोइन्दु) देव द्वारा विरचित हैं। 'परमात्म-प्रकाश' साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है। जिस तरह श्री कुंदकुंदाचार्य के समयसार, प्रवचनसार व नियमसार ये तीन ग्रंथ आध्यात्मिक विषय की परम सीमा है उसी प्रकार श्री योगीन्दुदेव द्वारा विरचित 'परमात्म-प्रकाश' व 'योगसार' भी आध्यात्मिक विषय की परम सीमा है। जो व्यक्ति ऐसे ग्रंथों का निष्ठापूर्वक शुद्ध मन से अध्ययन, स्वाध्याय, मनन व अभ्यास करता है वह निश्चय ही मोक्षमार्ग पर चलकर अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

श्री योगीन्दुदेव का काल अभी निश्चित ज्ञात नहीं हो पाया है परन्तु अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि श्री योगीन्दु विक्रम सं. 700 के आस-पास हुए हैं। परम्परा से निम्नलिखित ग्रंथ योगीन्दु विरचित कहे जाते हैं परन्तु इनमें से संख्या 4 से 9 तक के रचनाकारों के बारे में अभी मतभेद है—

1. परमात्म-प्रकाश (अपभ्रंश) 2. योगसार (अपभ्रंश) 3. नौकार श्रावकाचार (अपभ्रंश) 4. अध्यात्म सन्दोह (संस्कृत) 5. सुभाषितम् (संस्कृत) 6. तत्वार्थ टीका (संस्कृत) 7. दोहापाहुड (अपभ्रंश) 8. अमृताशीति (संस्कृत) 9. निजात्माष्टक (प्राकृत)।

परमात्म-प्रकाश ग्रंथ तो इतना उपयोगी एवं प्रसिद्ध हुआ है कि इसकी संस्कृत, हिन्दी, कन्नड़ आदि भाषाओं में कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका, बालचन्द्र की कन्नड टीका व पं. दौलतराम की हिन्दी टीका काफी प्रसिद्ध है। 'परमात्म-प्रकाश' के दो मुख्य अधिकार हैं—एक त्रिविधात्माधिकार व दूसरा मोक्षाधिकार। प्रथम अधिकार में

आत्मा के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। आत्मा तीन प्रकार की होती है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा। आत्मा का निकृष्ट रूप बहिरात्मा व श्रेष्ठ-उच्चतम रूप परमात्मा है। इन सभी के लक्षण प्रथम अधिकार में बताये गये हैं। परमात्मा का लक्षण बताते हुए प्रथम अधिकार के 23वें दोहा में कहा गया है जिसका संस्कृत रूपान्तरण निम्न प्रकार है—

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मन्तुं न पाति।
निर्मल ध्यानस्थ यो विषयः स परमात्मा अनादिः॥

—आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जावे, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं।

दोहा सं. 123 में कहा गया है—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखड णिरंजणु णाणमउ संठिउ सम-चित्ति॥

—आत्मदेव देवालय (मन्दिर) में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है, कर्माजंन से रहित है, ज्ञानमय है, ऐसा निज परमात्मा समभाव में तिष्ठ रहा है, अन्य जगह नहीं है।

'परमात्म-प्रकाश' के दूसरे अधिकार में मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष का फल, निश्चय व व्यवहार मोक्ष-मार्ग, अभेद रत्नत्रय, शुद्धोपयोग के स्वरूप की चर्चा है एवं अन्त में परम-समाधि का कथन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'परमात्म-प्रकाश' अध्यात्म का जैनदर्शन पर आधारित एक गूढ़ अलौकिक ग्रंथ है। श्री योगीन्दु ने अपने इस महान् ग्रंथ की रचना अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए की है एवं उस प्रकाश पर प्रकाश डाला है जिस प्रकाश की आवश्यकता किसी आत्मा को परमात्मा बनने के लिए है।

'योगसार' भी परमात्म-प्रकाश की तरह पूर्णतः आध्यात्मिक है। इस विशेषांक में कई विद्वानों ने श्री योगीन्दु के कृतित्व व व्यक्तित्व पर कई दृष्टियों से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। 'परमात्म-प्रकाश' उपलब्ध अपभ्रंश भाषा-साहित्य का सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन पं० मनोहरलाल द्वारा सम्पादित होकर वि. सं. 1972 अर्थात् करीब 73 वर्ष पूर्व हुआ था। इसके 21 वर्ष बाद इसका द्वितीय संस्करण अधिक शुद्ध रूप से (नई आवृत्ति के प्रथम संस्करण के रूप में) प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। द्वितीय व तृतीय आदि संस्करण भी श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। इन संस्करणों के अध्ययन द्वारा किसी भी पाठक-शोधकर्ता को 'परमात्म-प्रकाश' व 'योगसार' का अधिक विस्तृत परिचय प्राप्त हो सकता है।

डॉ. गोपीचन्द पाटनी
सम्पादक

प्रकाशकीय

मानव इस चराचर विश्व का एक अद्वितीय प्राणी है। उसकी चेतना, चिन्तन, मनन एवं अनुभवन शक्ति विश्व के अन्य प्राणियों से उसे पृथक् चिह्नित करती है। वह जो कुछ इस लौकिक जीवन में अनुभव करता है उससे उसके हृदय में स्पन्दन होकर भावों की उत्पत्ति होती है। ये भाव प्रच्छन्न रूप से मानवहृदय में प्रसुप्त रहते हैं। साहित्य इन भावों को जाग्रत करने का कार्य करता है। ये भाव ही मानव को मानवता से ऊंचा उठाकर महामानव और नीचे गिराकर दानव बना देते हैं।

साहित्य भी दो प्रकार का होता है। एक वह जो मानव के सद्भावों को दीप्त करता है। ऐसा साहित्य ही वास्तव में साहित्य नाम से अभिहित किये जाने योग्य होता है। असद्भावों को उद्दीप्त करने वाला साहित्य साहित्य न होकर साहित्याभास होता है। ऐसा साहित्य मानव को पतन के ऐसे गहन गर्त में गिरा देता है कि वहाँ से उबरना, निकलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है।

भावों की अभिव्यक्ति और साहित्य का निर्माण भाषा से होता है। भाषा सतत् परिवर्तनशील होती है। उसके कुछ तत्त्व नष्ट होते हैं, कुछ नये आते हैं और कुछ स्थायी होते हैं। वह सच्चे अर्थों में सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। परिवर्तन की यह गति इतनी धीमी, इतनी मन्द होती है कि पता ही नहीं चलता कब यह परिवर्तन हो गया। भाषा की यह परिवर्तनशीलता ही अनेक भाषाओं के उद्भव और विकास का कारण बनती है।

जब संस्कृत और प्राकृत का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा था, उनका जनाधार समाप्त हो रहा था ऐसे समय में अपभ्रंश उनका स्थान ग्रहण करने को आगे आई। वह जन-भाषा के रूप में उदित हुई और शीघ्र ही साहित्यिक भाषा का स्वरूप ग्रहण कर विदर्भ, गुजरात, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, मिथिला एवं मगध आदि भारतीय क्षेत्र में फैल गई। इन प्रदेशों में भाषा के विपुल साहित्य का निर्माण हुआ।

यह निर्विवाद सत्य है कि अपभ्रंश भाषा के साहित्य का सर्वाधिक अंश जैन रचनाकारों द्वारा निर्मित है और उसमें से अधिकांश का वर्ण्यविषय तीर्थंकरों एवं अन्य जैन महापुरुषों के जीवन से संबंधित है।

कुछ रचनाकारों ने अध्यात्मपरक रचनाएं भी की हैं उनमें प्रमुखतम हैं मुनि श्री जोगिचन्द (योगीन्दु देव) जिनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व से जिज्ञासुओं को परिचित कराने हेतु 'जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी' की शोधपत्रिका 'जैनविद्या' का यह नवम अंक प्रकाशित है। पाठक देखेंगे कि मुनिश्री सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे। उन्हें किसी धर्म-विशेष से कोई पक्षपात नहीं था। वे मानव-मानव के बीच खड़ी दीवारों को ध्वस्त कर सच्चे मानवधर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनकी दृष्टि लोकोन्मुखी थी। वे मानव के वास्तविक स्वरूप को उजागर करना चाहते थे, उसे परमब्रह्म परमेश्वर बनाना चाहते थे।

अपभ्रंश भाषा के आध्यात्मिक कवियों में मुनिश्री जोगिचन्द का वही स्थान है जो प्राकृत भाषा के आध्यात्मिक कवियों में कुन्दकुन्दाचार्य का। जिस प्रकार प्राकृत भाषा के ज्ञात आध्यात्मिक रचनाकारों में कुन्दकुन्द का स्थान सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि है उसी प्रकार अपभ्रंश भाषा में कवि योगीन्दु देव का। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार तीन भेद किये हैं। योगीन्दु ने मूढ़, विचक्षण और परब्रह्म इन तीन भेदों में आत्मा के स्वरूप को बांट उन पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। इन भेदों के नाम के अतिरिक्त तात्त्विक दृष्टि से कुन्दकुन्द और योगीन्दु में अन्य कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है। इसीलिए टीकाकारों ने मूढ का अर्थ बहिरात्मा, विचक्षण का अर्थ अन्तरात्मा तथा परब्रह्म का अर्थ परमात्मा किया है। दोनों ही पूजा के लिए गुणों को महत्त्व देते हैं किसी नाम विशेष या वेष-विशेष को नहीं। दोनों ही आत्मा के उस रूप के उपासक हैं जो कर्ममल से रहित निरंजन एवं रत्नत्रय संयुक्त हो जिसमें किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प नहीं हों जिसे समस्त परद्रव्यों से छूटकर आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो गई हो फिर वह चाहे कोई भी हो, कैसा भी हो और कहीं भी हो।

आशा है गत अंकों की भांति ही पत्रिका का यह अंक भी पाठकों को पसन्द आयगा एवं इस क्षेत्र में कार्यरत शोधार्थियों को उनके ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध होगा।

इसमें प्रकाशनार्थ जिन रचनाकारों की रचनाएँ प्राप्त हुई उनके प्रति हमारा आभार। भविष्य में भी उनसे इसी प्रकार सहयोग की अपेक्षा है। वे सब महानुभाव भी जिन्होंने इस अंक के सम्पादन, प्रकाशन तथा मुद्रण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया है, धन्यवाद तथा प्रशंसा के पात्र हैं।

नरेशकुमार सेठी
प्रबन्ध–सम्पादक

आरम्भिक

जैनविद्या का नवम अंक पाठकों तक पहुँचाते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है । इस अंक में ईसा की छठी शताब्दी के आध्यात्मिक कवि जोइन्दु के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है ।

आचार्य जोइन्दु का अपभ्रंश भाषा पर अपूर्व अधिकार है । वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध की परम्परा में शुद्ध अध्यात्म का उपदेश करनेवाले कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती अध्यात्म कवि हैं । परमात्मप्रकाश और योगसार उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं । उनकी रचनाओं में आत्मानुभूति व्याप्त है । बहिरात्मा से परमात्मा होने की यात्रा का उसमें काव्यमय वर्णन है । उनकी रहस्यमयी रचनाओं का प्रभाव परवर्ती अपभ्रंश कवियों और हिन्दी के सन्त कवियों पर प्रचुरता से पड़ा है । विख्यात सन्त कवि कबीर के क्रान्तिकारी आध्यात्मिक विचारों पर जोइन्दु का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है । इनकी रचनाओं का विषय साम्प्रदायिक न होकर शुद्ध आध्यात्मिक है इसलिए इसकी उपादेयता सर्वत्र है । जोइन्दु के आत्मा सम्बन्धी विचार सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं । भौतिकता से उत्पन्न संघर्षों से भरेपुरे आज के मानवीय जीवन के लिए वे परम उपयोगी हैं । उनकी इस विशेषता के कारण ही उन्हें लोकदर्शी परम्परा का संदेशवाहक भी कहा जा सकता है ।

वे कवि की अपेक्षा सन्त और आचार्य अधिक हैं । अपने विचारों को उन्होंने सरल कविता में प्रकट किया है । उनकी पुनरुक्तियाँ श्रोताओं और पाठकों के मानस पर उनके द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिकता का अमिट प्रभाव बनाये रखने के उद्देश्य को लिये हुए है । उनके उपदेशों में उपनिषदों जैसा प्रवाह और सरसता है, परम मांगलिकता है ।

इस अंक में आचार्य जोइन्दु के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से सम्बन्धित ये विषय विभिन्न शीर्षकों में प्रतिपादित हैं—आत्मा और परमात्मा विषयक धारणा, बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी विचार, परमात्मप्रकाश और योगसार का विश्लेषण, उनका काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन और हिन्दी-सन्त कवियों पर प्रभाव । अमृताशीति जोइन्दु की कृति है या नहीं इस विषय पर विद्वानों में ऊहापोह तो हो चुका है पर अन्तिम निर्णय होना अवशिष्ट है इसीलिए 'जोइन्दु और अमृताशीति' इस शीर्षक से एक लेख यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । विद्वान् इस पर विचार करें और तथ्यात्मक निर्णय से हमें अवगत करें ।

जैसा गतांक में सूचित किया गया था इस अंक से आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के सूत्रों का विवेचन भी आरम्भ किया जा रहा है।

हमें आशा है कि आचार्य जोइन्दु से सम्बन्धित विषय सामग्री से आध्यात्मिक अध्ययन और अनुसन्धान को दिशा और प्रेरणा मिलेगी।

इस अंक के सम्पादन में डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी, डॉ. कमलचन्द सोगाणी, पं. भंवरलाल पोल्याका और सुश्री प्रीति जैन का, प्रकाशन में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी प्रबन्धकारिणी कमेटी के अध्यक्ष श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका और मन्त्री श्री नरेशकुमार सेठी का तथा मुद्रण में पॉपुलर प्रिन्टर्स का जो सहयोग मिला है उसके लिए कृतज्ञता का भाव अर्पित है।

(प्रो.) प्रवीणचन्द्र जैन
सम्पादक

कविश्री जोइन्दु व्यक्तित्व और कृतित्व

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

□

शतसहस्र जीवों के तिमिरपूर्ण जीवन को अपने अन्तस् के आलोक से आलोकित करनेवाले अनेक भारतीय सन्तों, साधकों और विचारकों का जीवन-वृत्त आज भी तिमिराच्छन्न है। अपने स्वभाव और परिपाटी परिपालन के कारण अपने विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा है अपितु अपने कार्यों/चरित्रों को अधिकाधिक रहस्यमय रखने का प्रयास किया है। आज हम ऐसे महामनीषियों, सुविज्ञों के प्रामाणिक जीवनवृत्त और तथ्यों से सर्वथा वंचित और अनभिज्ञ हैं। इन तक पहुंचने के लिए परोक्ष-मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, कल्पना के मचान पर आरूढ़ होते हैं, अनुमान-आर्णव में अवगाहन करते हैं। कविश्री जोइन्दु भी उनमें से एक सुधी साधक और काव्य-गगन के ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं जिनके विषय में प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। प्रस्तुत आलेख में अध्यात्मवेत्ता अपभ्रंश-कविश्री जोइन्दु के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालना हमारी मुख्य ईप्सा है।

नामकरण

अध्यात्मवेत्ता जोइन्दु के जीवन के सन्दर्भ में कोई वर्णन नहीं मिलता। उनके ग्रन्थों में भी उनके नाम, जीवन तथा स्थान के बारे में कोई निर्देश नहीं मिलता। कविश्री जोइन्दु विरचित परमात्मप्रकाश में उनका नाम 'जोइन्दु' उल्लिखित है। यथा—

भावि पणविवि पंच गुरु सिरि-जोइन्दु जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ।। प. प्र. 1,8

अर्थात् भट्ट प्रभाकर ने शुद्ध भाव से पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार कर और अपने परिणामों को निर्मल करके श्री जोइन्दु जिन से प्रार्थना की ।

ब्रह्मदेव ने 'परमात्मप्रकाश' की टीका में कविश्री को सर्वत्र योगीन्दु लिखा है (पृष्ठ 1, 5, 346 आदि) । श्रुतसागर ने 'योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेंण' कहा है (पृष्ठ 57) । 'परमात्मप्रकाश' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'योगीन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'योगसार' के अन्तिम दोहे में 'जोगिचन्द' नाम का उल्लेख द्रष्टव्य है (पृष्ठ 394) । 'योगसार' की जयपुर के ठोलियों के मन्दिरवाली प्रति के अन्त में लिखा है—"इति योगीन्ददेवकृत प्राकृत दोहा के आत्मोपदेश सम्पूर्ण ।" उक्त प्रति का अन्तिम दोहा इस प्रकार है । यथा—

संसारह भयभीयएण जोगचन्द मुणिएण ।
अप्पा संबोहण कया दोहा कव्वु मिणेण ।।

इस प्रकार कविश्री ने अपने को 'जोइन्दु' या जोगचन्द (जोगिचन्द) ही कहा है यह 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में प्रयुक्त नामों से स्पष्ट है । इन्दु और चन्द्र पर्यायवाची शब्द हैं । व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायवाची प्रयोग भारतीय काव्य में परिलक्षित हैं । डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने भागचन्द्र को 'भागेन्दु' और शुभचन्द्र को 'शुभेन्दु', प्रभाचन्द्र को 'प्रभेन्दु' आदि संज्ञाओं के रूप-परिवर्तन से अपने इस मत को पुष्टता प्रदान की है (प. प. भूमिका पृ. 57) ।

वस्तुतः कविश्री का नाम 'जोइन्दु' योगीन्दु या जोगिचन्द ही है । योगीन्दु योगीचन्द्र का रूपान्तर है और इसका अपभ्रंश रूप जोइन्दु है ।

समय निर्धारण

श्री गांधी जोइन्दु को प्राकृत वैयाकरण चंड से भी पुराना सिद्ध करते हैं ।[1] अतएंव उनके मतानुसार कविश्री का समय विक्रम की छठी शताब्दी हुआ । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कविश्री को आठवीं–नवीं शताब्दी का कवि स्वीकारते हैं ।[2] श्री मधुसूदन मोदी ने कविश्री को दसवीं शती में होना सिद्ध किया है ।[3] श्री उदयसिंह भटनागर ने लिखा है कि प्रसिद्ध जैन साधु जोइन्दु (योगीन्दु) जो एक महान् विद्वान्, वैयाकरण और कवि था, सम्भवतया चित्तौड़ का ही निवासी था । इसका समय विक्रम की दसवीं शती था ।[4] हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में कविश्री को ग्यारहवीं शती से पुराना माना गया है ।[5] डॉ. कामताप्रसाद जैन कविश्री जोइन्दु को बारहवीं शती का 'पुरानी हिन्दी का कवि' बताते हैं ।[6] डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने कविश्री जोइन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का होना निश्चित किया है ।[7] डॉ. हरिवंश कोछड ने कविश्री का समय आठवीं–नवीं शताब्दी माना है ।[8] भाषाविचार से जोइन्दु का समय आठवीं–नवीं शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है ।

रचनाएं

परम्परा से जोइन्दु के नाम पर निम्नलिखित रचनाएं मानी जाती हैं—1. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), 2. योगसार (अपभ्रंश), 3. नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश), 4. अध्यात्म

सन्दोह (संस्कृत), 5. सुभाषित तन्त्र (संस्कृत), 6. तत्त्वार्थ टीका (संस्कृत) । इनके अतिरिक्त योगीन्द्र के नाम पर दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) और निजात्माष्टक (प्राकृत) रचनाएं भी प्राप्त होती हैं । पर यथार्थ में 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' दो ही ऐसी रचनाएं हैं जो निर्भ्रान्त रूप से जोइन्दु की मानी जा सकती हैं । कविश्री जोइन्दु की दोनों रचनाएं 'परमप्पयासु' अर्थात् 'परमात्मप्रकाश' और 'जोगसारु' अर्थात् 'योगसार' समन्वय की उदात्त भावना से अनुप्राणित हैं । साथ ही उक्त दोनों ग्रन्थों में ही अपनी अध्यात्मवादी विचारणा की अभिव्यञ्जना में कविश्री ने ही सर्वप्रथम 'दोहाशैली' को अपनाया है ।[9] यहां दोनों ग्रन्थों का क्रमशः सामान्य परिचय देना असंगत न होगा ।

परमप्पयासु (परमात्मप्रकाश)

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रश्नोत्तर शैली में आत्मा का प्रकाशन करता है । भट्ट प्रभाकर नाम के जिज्ञासु शिष्य ने कविश्री के सम्मुख संसार के दुःख की समस्या रखी । यथा—

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु ।
पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ।।
चउ-गइ-दुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोइ ।
चउ गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएं सो वि ।। 1.9-10

अर्थात् हे स्वामिन् ! इस संसार में रहते हुए अनन्तकाल बीत गया, परन्तु मैंने कुछ भी सुख प्राप्त नहीं किया, प्रत्युत महान् दुःख ही पाता रहा । अतः चारों गतियों के दुःखों का विनाश करनेवाले परमात्मा का स्वरूप बतलाइए ।

'परमात्मप्रकाश' इस समस्या का सुन्दर समाधान है । इस ग्रन्थ में मधुर, सरल आत्मा की अनुभूतियां ही तरंगित हैं । यह दो अधिकारों (सर्ग) में विभक्त है । प्रथम अधिकार में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप, निकल और सकल परमात्मा का स्वरूप, जीव के स्वशरीर परिमाण की चर्चा और द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय, सम्यक्त्व, मिथ्यात्वादि का वर्णन है तो द्वितीय अधिकार में मोक्ष स्वरूप, मोक्षमार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप, पुण्य की समानता, मोक्षफल और परमसमाधि का उल्लेख है ।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कविकाव्य में औदात्य के अभिदर्शन होते हैं । कविश्री का 'जिन' शिव और बुद्ध भी है । आपके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा में केवल जैन ही नहीं अपितु वेदांत, मीमांसक और बौद्ध भी समा सके हैं ।[10] विभिन्न दृष्टिकोणों[11] से आत्मा का वास्तविक रहस्य समझना ही कविश्री का अभीष्ट रहा है । आपने जैनेतर शब्दावलि का भी व्यवहार किया है ।[12] कविश्री जहां पारिभाषिक तथ्यों का जिक्र करते हैं वहां वे रूढ़ हो जाते हैं । विषयों की निस्सारता और क्षणभंगुरता का उपदेश देते हुए भी कविश्री ने कहीं पर भी कामिनी, कंचन और गृहस्थ जीवन के प्रति कटुता प्रदर्शित नहीं की है ।[13]

'परमात्मप्रकाश' ज्ञानगरिष्ठ और विचारप्रधान है। इसमें कुल 345 पद्य हैं—प्रथम अधिकार में 126 और द्वितीय अधिकार में 219 हैं जिनमें 5 गाथाएं, 1 स्रग्धरा, 1 मालिनी, 1 चतुष्पदिका और शेष सभी दोहे हैं। पुनरुक्ति होते हुए भी इस ग्रन्थ का विषय विशृंखल नहीं हैं। 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव कहते हैं—"अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति।" परमात्मप्रकाश पर ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका और पंडित दौलतराम की हिन्दी टीका महत्त्वपूर्ण है।[14] काव्यकार जोइन्दु की स्वानुभूति है कि इस महनीय कृति के सम्यक् पारायण से मोहमुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

वस्तुत: 'परमात्मप्रकाश' कविश्री जोइन्दु के चिंतन की चिन्तामणि है और है अनुभूति का आगार। जिस प्रकार प्रात:स्मरणीय श्री कुंदकुंदाचार्य की प्रसिद्ध नाटकत्रयी है उसी प्रकार यह भी अध्यात्म विषय की परम सीमा है।

जोगसारु (योगसार)

कविश्री जोइन्दु की दूसरी रचना 'योगसार' है जो कि 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय विवेचन में क्रमबद्धता का अभाव है। अपभ्रंश का यह ग्रन्थ वस्तुत: 'परमात्मप्रकाश' के विचारों का अनुवर्तन है जो सुबोध और काव्योचित ढंग से वर्णित है। 108 छंदों की इस लघु रचना में दोहों के अतिरिक्त एक चौपाई और दो सोरठों का भी निर्वाह हुआ है।

'योगसार' में कविश्री ने अध्यात्मचर्चा की गूढ़ता को बड़ी ही सरलता से व्यंजित किया है जिनमें उनके सूक्ष्मज्ञान एवं अद्भुत अनुभूति का परिचय मिलता है। जब आत्मज्ञान तथा अनुभवसाक्षिक ज्ञान ही सर्वोपरि है तो वह सबके बूते की बात हो सकती है। यह अनुभवसाक्षिक ज्ञान इसी देह और मन से सम्भव है। इसलिए देह और मन उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। यही कारण है कि कविश्री ने धर्मोपदेशकों द्वारा अपवित्र कही जानेवाली देह को देवल अथवा देवमंदिर की गरिमा प्रदान की। यथा—

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ।।43।।

अर्थात् देव न देवालय में है, न तीर्थों में, यह तो शरीररूपी देवालय में है, यह निश्चय से जान लेना चाहिए। जो व्यक्ति शरीर के बाहर अन्य देवालयों में देव तलाश करते हैं उन्हें देखकर हँसी आती है।

इस प्रकार जोइन्दु की उक्त दोनों कृतियों में रूढ़ि-विरोधी नवोन्मेष की अभिव्यक्ति है। मानवता की सामान्य भावभूमि पर खड़े होने के कारण ही इनका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं है। ये सबके प्रति सहिष्णु हैं, इनका विश्वास है कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परमतत्त्व को विविध नामों से पुकारते हैं। यथा—

जो परमप्पउ परम-पउ, हरि-हरु-बंभु वि बुद्धु ।
परम-पयासु भणंति मुणि, सो जिण-देह विसुद्धु । प. प्र. 2.200

अर्थात् जिस परमात्मा को मुनि परमपद, हरि, महादेव, ब्रह्मा, बुद्ध और परम प्रकाश नाम से कहते हैं वह रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही हैं, ये सब नाम उसी के हैं ।

सो सिउ-संकरु विण्हु सो, सो रूद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु । योगसार, 105

अर्थात् वही शिव है, वही शंकर हे, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है, और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिए ।

प्रतिभा और वैदुष्य

अपभ्रंश कवयिता जोइंदु शांत, उदार एवं विशुद्ध अध्यात्मवेत्ता थे । आप जैन परम्परा में दिगम्बर आम्नाय के मान्य आचार्य थे और थे उच्चकोटि के आत्मिक रहस्यवादी साधक । रूढ़िविरोधी नवोन्मेषशालिनी शक्तियों की संघर्षात्मक धार्मिक अभिव्यक्ति के कविश्री प्रकृष्ट निदर्शन थे । आपके काव्य में आत्मानुभूति का रस लहराता है । पारिभाषिक शब्दों की अध्यात्मपरक अर्थव्यंजना कविकाव्य की प्रमुख उपादेय विशेषता है ।

कविश्री जोइन्दु इतने मुक्त मन थे कि प्रकाश जहाँ से भी मिले उसे स्वीकार करने के पक्ष में थे । कविश्री ने ज्ञानमात्र को सर्वोपरि मानकर उस परमात्म की वंदना सबसे पहले की है जो नित्य निरंजन ज्ञानमय है । काव्यकार जोइंदु ने जैनधर्म की शास्त्रीय रूढ़ियों और बाह्याडंबरों के विरुद्ध लोकसामान्य के लिए सरल और उदार ढंग से जीवनमुक्ति का संदेश दिया । उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण जोइन्दु की पारिभाषिक पदावली और काव्यशैली सहज, सामान्य और लोकप्रचलित हो गई । प्रो. रानाडे के शब्दों में—'जोइन्दु एक जैन गूढ़वादी हैं किन्तु उनकी विशालदृष्टि ने उनके ग्रंथ में एक विशालता ला दी है और इसलिए उनके अधिकांश वर्णन साम्प्रदायिकता से अलिप्त हैं । उनमें बौद्धिक सहनशीलता भी कम नहीं है ।'[15]

मूल्यांकन

वस्तुतः मुनिश्री जोइन्दु अपभ्रंश साहित्य के महान् अध्यात्मवादी कविकोविद हैं, जिन्होंने क्रांतिकारी विचारों के साथ-साथ आत्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्षमार्ग की उपादेयता सिद्ध की है । कविश्री जोइन्दु की वाणी में अनुभूति का वेग एवं तत्त्वज्ञान की गम्भीरता समाविष्ट है । कविश्री की प्रभावना अपभ्रंश कवयिताओं के साथ-साथ हिन्दी के संतकवियों पर भी है । कबीर की क्रांतिकारी विचारधारा का मूलस्रोत कविश्री जोइन्दु का काव्य है । अपभ्रंश वाङ्मय के रहस्यवाद–निरूपण में मुनिश्री जोइन्दु का स्थान सर्वोपरि है तथा भावधारा, विषय, छन्द, शैली की दृष्टि से भी कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक अवदान

महनीय है । कविश्री जोइन्दु का व्यक्तित्व श्रौदात्य-जल से श्रापूर्ण मंदाकिनी है श्रौर उनका कृतित्व उपादेयी ज्ञान की गोमती है ।

---

1. श्रपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका, पृष्ठ 102–103 ।
2. मध्यकालीन धर्मसाधना, श्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1952, पृष्ठ 44 ।
3. श्रपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृष्ठ 77, 79 ।
4. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग की प्रस्तावना पृष्ठ 3 ।
5. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 346 ।
6. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 54 ।
7. परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृष्ठ 57 ।
8. श्रपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 268 ।
9. श्रपभ्रंश कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक श्रवदान, डॉ. श्रादित्य प्रचण्डिया दीति, श्रनेकान्त, श्रप्रेल–जून 1986, वर्ष 39, किरण 2, पृष्ठ 2 ।
10. जैन शोध श्रौर समीक्षा, डॉ. प्रेमसागर जैन, पृष्ठ 59 ।
11. गूढ श्रध्यात्म को व्यक्त करने की दो शैलियां हैं, उपनिषद् में इन्हें श्रपरा श्रौर परा विद्या कहते हैं, बौद्धों में परमार्थ श्रौर व्यवहार सत्य कहते हैं श्रौर जैनों में निश्चय श्रौर व्यवहार नय की कल्पना है ।
12. श्रपभ्रंश श्रौर हिन्दी जैन रहस्यवाद, डॉ. वासुदेवसिंह, पृष्ठ 44–45 ।
13. श्रपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 270 ।
14. श्री ब्रह्मदेव ईसा की तेरहवीं शती श्रौर पंडित दौलतराम श्रठारहवीं शती में हुए ।
15. भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द 7, वेणकर श्रौर रानाडे, महाराष्ट्र का श्राध्यात्मिक गूढ़वाद, भूमिका, पृष्ठ 2 ।

जोइन्दु की परमात्मा-विषयक धारणा

—श्री राजीव प्रचंडिया

☐

जैन काव्य साहित्य का लक्ष्य मानव-जीवन में रूढ़ि, अज्ञान-तमस को दूर कर उसमें ज्ञान-राशि का संचयन करना रहा है जिससे संसारी प्राणी निरर्थक भोग की अपेक्षा सार्थक योग में रमे अर्थात् कषाय-कलापों की मजबूत पकड़ से छूटता हुआ वह जीवन की गति को श्रेष्ठ/शुद्धतम बना सके। वास्तव में इस साहित्य ने जनमानस के अन्तस् को प्रेम और समता से अभिसिंचित किया है तथा सोयी हुई चेतना को झंकृत कर आत्म-शक्तियों को प्रस्फुटित कर शाश्वत-सुख/अनन्त-आनन्द का द्वार भी खोला है।

जोइन्दु जैनदर्शन से अनुप्राणित अपभ्रंश भाषा के एक सशक्त आध्यात्मिक कवि हैं जिन्होंने अपनी प्रमुख रचनाओं 'परमात्म-प्रकाश' और 'योगसार' के माध्यम से 'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप-स्थिति का उद्घाटन किया है। जोइन्दु ने परमात्मा के सम्बन्ध में जो धारणा अभिव्यक्त की है वह सर्वथा जैन परम्परानुमोदित है।

विश्व की व्यवस्था का मूलाधार 'जीवतत्त्व' है। शरीर, मन और वचन की समस्त शुभ-अशुभ क्रियाएं इसके द्वारा ही सम्पादित हुआ करती हैं। जब यह संसारी दशा में प्राण-धारण करता है तब 'जीव' कहलाता है अन्यथा ज्ञान-दर्शन स्वभावी होने के कारण यह 'आत्मा' से संज्ञायित है। जीव के आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अर्थात् शुद्धतम कर्म-वियुक्त अवस्था परमात्मा कहलाती है। यथा—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।।

प. प्र. 1.15

जोइन्दु निश्चय नय से जीव को ही परमात्मा मानते हैं—

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ।।

यो. सा. 104

प्रत्येक जीव में परमात्मत्व के बीज व्याप्त हैं । आवश्यकता है इसके स्वरूप को ठीक-ठीक पहिचानने तथा समस्त कर्म-पुद्गलों को क्षय/उच्छेद करने की अर्थात् समस्त बंधनों से मुक्त होने की । वस्तुतः कर्मयुक्त जीव संसारी तथा कर्ममुक्त जीव मुक्तात्मा/सिद्धात्मा/परमात्मा कहलाते हैं । यथा—

एहु जो अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसं जायउ जप्पा ।
जामइँ जाणइ अप्पें अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ।।

प. प्र. 2.174

आत्मा जिसका वास्तविक स्वरूप-अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, शक्ति का पुंजीभूत रूप जो कर्मावरण से प्रच्छन्न था—जब तप-साधना तथा ध्यान-आराधना के माध्यम से प्रकट होता है तब वह परमात्मा कहलाता है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जीव के आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था आत्मा की और विकास की अन्तिम स्थिति परमात्मा की होती है ।

जोइन्दु 'परमात्मा' को (ब्रह्म) कहते हैं । उनका ब्रह्म बार-बार जन्म-मरण से मुक्त अर्थात् सांसारिक सुख-दुःख से पूर्णतया निवृत्त अपने वास्तविक-विशुद्ध स्वरूप में रमण करता हुआ अनन्त आनन्द का भोक्ता है, वह न तो वेदान्त दर्शन की भाँति 'ब्रह्मस्वरूप' में लीन है, न सांख्य दर्शन की भाँति प्रकृति को तटस्थ भाव से देखता रहता है, न निर्वाण व शून्य को प्राप्त होता है और न ही वह इस जगत् का निर्माता, ध्वंसकर्त्ता और भाग्यविधाता बनता है अपितु संसार से पूर्णतः निर्लिप्त, वीतरागता से परिपूर्ण अपने ही स्वरूप में स्थित होता जाता है । वह स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोक-शिखर पर जिसे सिद्ध-शिला कहा जाता है, अवस्थित हो जाता है जहां वह अनन्त काल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करता हुआ अपने चरमशरीर से कुछ न्यून आकार में स्थिर रहता है । ज्ञान ही उसका शरीर होता है । यथा—

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ गइ दुक्ख विमुक्कु ।
केवल दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ।।

प. प्र. 2.203

कर्मबंध की तीव्रता-मन्दता, ग्रात्मस्वरूप के प्रकटीकरण ग्रर्थात् ग्रात्मविकास की दशा के ग्राधार पर जोइन्दु 'जीव' की तीन स्थितियाँ निर्धारित करते हैं—एक स्थिति में ग्रात्मज्ञान का उदय नहीं होता है, दूसरी में ग्रात्मज्ञान का उदय तो होता है किन्तु राग-द्वेष ग्रादि काषायिक भाव ग्रपना प्रभाव थोड़ा बहुत डालते रहते हैं तथा तीसरी में ज्ञानावरणादि 'द्रव्यकर्म', रागादि 'भावकर्म' तथा शरीरादि 'नोकर्म' का पूर्ण उच्छेदन ग्रर्थात् ग्रात्मस्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण होता है। पहली स्थिति मूढ/बहिरात्मा ग्रर्थात् मिथ्यादर्शी की, दूसरी स्थिति विचक्षण/ग्रन्तरात्मा ग्रर्थात् समदर्शी की तथा तीसरी स्थिति ब्रह्म/परमात्मा ग्रर्थात् सर्वदर्शी की कहलाती है। यथा—

मूढ़ वियक्खणु बंभु परु ग्रप्पा ति-विहु हवेइ।
देहु जि ग्रप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ।।

प. प्र. 1.13

इस प्रकार संसारी जीव का निकृष्ट ग्रवस्था से उत्कृष्ट ग्रवस्था/पूर्ण विकास तक एक क्रमिक विकास है। ग्रात्मा का यह क्रमिक विकास गुणस्थान कहलाते हैं जो मिथ्यादृष्टि ग्रादि के भेद से चौदह होते हैं। इनमें से होकर जीव को ग्रपना ग्राध्यात्मिक विकास करते हुए ग्रन्तिम लक्ष्य/साध्य तक पहुँचना होता है। इन गुणस्थानों में मोहशक्ति शनैः-शनैः क्षीण होती जाती है ग्रौर ग्रन्त में जीव मोह-ग्रावरण से निरावृत होता हुग्रा निष्प्रकम्प स्थिति में पहुँच जाता है। गुणस्थानों में पहले तीन स्थान में बहिरात्मा की ग्रवस्था का, चतुर्थ से बारहवें स्थान तक ग्रन्तरात्मा की ग्रवस्था का तथा तेरहवें एवं चौदहवें स्थान में परमात्मा की ग्रवस्था का निरूपण है। कोई भी व्यक्ति इस 'विकास-पथ' का ग्रनुसरण कर परमात्मा बन सकता है।

जोइन्दु परमात्मा को ग्रनन्त गुणों का ग्रागार मानते हैं। शंकर, विष्णु, रुद्र, परम-ब्रह्म, शिव, जिन, बुद्ध ग्रादि उसी के नामान्तर है। यथा—

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो ग्रणंतु सो सिद्धु।।

यो. सा. 105

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु।।

प. प्र. 2.200

वे परमात्मा को उपनिषदों के ब्रह्म की भाँति एक नहीं ग्रपितु ग्रनेक मानते हैं तथा इनमें परस्पर कोई ग्रन्तर भी नहीं स्वीकारते। समस्त परमात्मा ग्रपने ग्राप में स्थित एवं पूर्ण स्वतंत्र हैं, वे किसी ग्रखंडसत्ता के ग्रंश रूप नहीं हैं। इस प्रकार संसार ग्रवस्था में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से समस्त जीव शक्तिरूप से परमात्मा कहलाते हैं। यथा—

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो परभाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ।।

प. प्र., 1.18

जोइन्दु का परमात्मा दो प्रकार से जाना जा सकता है—एक कारणरूप में तथा दूसरा कार्यरूप में। कारणरूप में परमात्मा वह है जो व्यवहार नय से देहरूपी देवालय में बसता है, पर निश्चय से देह से भिन्न है, आराध्यदेव स्वरूप है, अनादि-अनन्त है, केवलज्ञान स्वरूपी है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव है। यथा—

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु ।
केवल-णाण-फुरंतु-तणु सो परमप्पु णिभंतु ।। प. प्र. 1.33

कारण परमात्मा देशकालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व है जो मुक्त व संसारी तथा चींटी व मनुष्य सब जीवों में अन्वयरूप से पाया जाता है। कार्य परमात्मा वह है जो अष्ट कर्मों को नष्ट करके तथा देहादि सब परद्रव्यों को छोड़कर केवलज्ञानमयी-दर्शनमयी है जिसका केवल सुख स्वभाव है जो अनन्तवीर्यवाला है। इन लक्षणों सहित सबसे उत्कृष्ट निःशरीरी व निराकार देव जो परमात्मा/सिद्ध है जो तीनों लोक का ध्येय है, वही इस लोक के शिखर पर विराजमान है अर्थात् कार्य परमात्मा वह मुक्तात्मा है जो पहले संसारी था, पीछे कर्म काटकर मुक्त हुआ, यथा—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।।

....

....

एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ।।

प. प्र., 1.15–25

इस प्रकार कारण परमात्मा अनादि व कार्य परमात्मा सादि होता है। जोइन्दु परमात्मा के दो भेद करते हैं–एक सकल परमात्मा तथा दूसरा निष्कल परमात्मा। सकल परमात्मा अरहन्त तथा निष्कल परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं। अरहन्त सशरीरी होते हैं जबकि सिद्ध अशरीरी निराकार होते हैं। जब संसारी जीव चार घातिया कर्मों (जीवों के अनुजीवी गुणों के घात करने में निमित्त)–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का नाश कर लेता है तब अरहन्त पद पर प्रतिष्ठापित हो जाता है। जब यही जीव शेष चार अघातिया कर्मों (जीवों के अनुजीवी गुणों में घात करने में निमित्त न हों)–नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय का भी नाश कर लेता है तो सिद्ध परमेष्ठी बन जाता है, यथा—

केवल दंसण-णाणमउ केवल सुक्ख-सहाउ ।
केवल वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ।।

प. प्र., 1.24

सयल–वियप्पहँ तुट्टाहँ सिव-पय मग्गि वसन्तु ।
कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहन्तु ।।
केवलणाणि अणवरउ लोयालोउमुणंतु ।
णियमें परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहन्तु ।।

प. प्र., 2.195–96

अरहन्त परमात्मा केवलज्ञानस्वाभावी होने से एक ही समय में समस्त लोकालोक को प्रत्यक्षरूप से जाननेवाले तथा मात्र घातिया कर्मों का नाश करनेवाले, अठारह दोषों से रहित, छियालीस गुणों से युक्त होते हैं । सिद्ध भगवान् क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व नामक अष्ट गुणों से मंडित, समस्त घाति–अघाति कर्मों से विरत तथा लोक के अग्रभाग पर विराजमान होते हैं ।

जोइन्दु परमात्मा के स्वरूप को विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो पांच प्रकार के शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस तथा कार्मण), पांच प्रकार के वर्ण (श्वेत, नील, कृष्ण, लाल और पीला), दो प्रकार की गंध (दुर्गन्ध-सुगन्ध), पांच रस (मधुर, आम्ल, तिक्त, कटु एवं कषाय), शब्द (भाषा-अभाषारूप, सचित्त-अचित्त मिश्ररूप, सातस्वर), आठ तरह के स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठिन), पांच आस्रव (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग), क्षुधादि अठारह दोषों से रहित इन्द्रियातीत तथा जिसके ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तिष्क आदि नहीं है और जो जन्म-जरा-मृत्यु से सर्वथा मुक्त, चिदानन्द, शुद्धस्वभावी, अक्षय, निरंजन-निराकार है, वह परमात्मा है । यथा—

जासु ण वण्णु गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाऊ ।।

प. प्र., 1.19-21

उस परमात्मा के कुंभक, पूरक, रेचक नामवाली वायुधारणादिक नहीं है । वह प्रतिमादि ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं है, अक्षरों की रचनारूप स्तंभन, मोहन आदि विषय यंत्र नहीं है, अनेक तरह के अक्षरों के बोलने रूप मंत्र नहीं है, महामण्डल, वायुमण्डल, अग्निमण्डल, पृथ्वीमंडल आदि पवन के भेद नहीं है, गारुड़मुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि मुद्राएं नहीं हैं, वह तो द्रव्यार्थिक नय से अविनाशी तथा अनन्त ज्ञानादि गुणरूप से सम्पृक्त है, यथा—

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउं अणंतु ।।

प. प्र., 1.22

जोइन्दु का मन्तव्य स्पष्ट है कि कर्म के निमित्त से जीव त्रस-स्थावर रूप में, स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंगादि चिह्नोंसहित अनन्तकाल से अनन्त योनियों में भवभ्रमण करता रहता है, यथा—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ।।

प. प्र. 1.40

उसे अपने अन्तस् में छिपी परमात्म-शक्ति का बोध ही नहीं रहता है। वह तो अनेक प्रकार के रागादि विकल्पों में जीता-मरता है। जोइन्दु इस जीव पर पड़े हुए कर्म-आवरण जो परमात्मा बनने में घातक/बाधक हैं, को हटाने हेतु दोनों प्रकार के तप-बाह्य और आभ्यन्तर तथा दो प्रकार के ध्यान-धर्म्य और शुक्ल की सम्यक् साधना-आराधना पर बल देते हैं। यथा—

झाणें कम्मक्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवइं सो जि जिय पभणिउ सिद्धमहंतु ।।

प. प्र. 2.201

इनके द्वारा संसारी जीव अपने कर्मों का परिणमन कर निर्जरा कर सकता है, कर्म-आस्रव रोक सकता है और अन्ततः सर्वप्रकार के कर्मजाल से सर्वथा मुक्त हो सकता है अर्थात् यह जीव वीतराग, निर्विकल्प, परमानन्द, समरसी भावों से युक्त अनन्त चतुष्टय से संयुक्त अपने ही स्वरूप स्वभाव में स्थित हो सकता है।

कविमनीषी जोइंदु का आध्यात्मिक शिखरकाव्य परमात्मप्रकाश

—डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

□

अपभ्रंश के बहुश्रुतचिन्तक कवि जोइंदु (योगीन्द्राचार्य या योगीन्दु) द्वारा रचित आध्यात्मिक काव्य 'परमात्मप्रकाश' (अपभ्रंश परमप्पयासु) अपभ्रंश के मुक्तक–काव्यों में शिखरस्थ है। कवि जोइंदु का विस्तृत प्रत्यक्ष परिचय उपलब्ध नहीं है। इस संदर्भ में 'अपभ्रंश–साहित्य' के यशोधन लेखक डॉ. हरिवंश कोछड़ ने यथाप्राप्य साक्ष्य-सामग्री के आधार पर अपने जिस अनुमान को अक्षरबद्ध किया है उससे जोइंदु का एक हल्का-सा सांकेतिक परिचय प्राप्त होता है।

प्राकृत और अपभ्रंश की अनेक प्राचीन कृतियों के प्रथितयशा सम्पादक डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने 'परमात्मप्रकाश' का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन किया है और उनका जोइंदु-विषयक एक विशिष्ट लेख (जोइंदु एण्ड हिज अपभ्रंश वर्क्स) पूना के भाण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट की 'वार्षिकी' (एनल्स) के 12वें भाग में (सन् 1931 ई०, पृष्ठ 161–162) प्रकाशित है। डॉ. उपाध्ये जोइंदु के 'परमात्मप्रकाश' को आचार्य हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' से पूर्व की रचना मानते हैं क्योंकि परमात्मप्रकाश में हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट अपभ्रंश की भाषिक प्रकृति और प्रवृत्ति के कतिपय नियमों की उपेक्षा हुई है। अगर 'परमात्मप्रकाश' की रचना 'शब्दानुशासन' के बाद होती तो जोइंदु कवि आचार्य हेमचन्द्र जैसे अगडधत्त वैयाकरण के अनुशासन की अवहेलना कदापि नहीं करते। इसके अतिरिक्त ज्ञातव्य है कि

हेमचन्द्र ने अपने कालजयी व्याकरण 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' में अपभ्रंश-भाषा-विषयक आठवें अध्याय में 'परमात्मप्रकाश' के कतिपय दूहे या दोहे उदाहरण के रूप में आकलित किये हैं। इससे भी सहज ही यह अनुमान होता है कि जोइंदु कवि आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) के पूर्ववर्ती हैं।

प्रसिद्ध वैयाकरण चण्ड ने भी अपने व्याकरण ग्रन्थ 'प्राकृत-लक्षण' में 'परमात्मप्रकाश' का एक दोहा उद्धृत किया है इसीलिए डॉ. उपाध्ये ने जोइंदु का काल चण्ड से पूर्व ईसा की छठी शती मानने का आग्रह दिखाया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो इनका समय दसवीं शती स्वीकार किया है किन्तु डॉ. हरिवंश कोछड़ ने भाषा की दृष्टि से जोइंदु का समय 8वीं–9वीं शती के आसपास स्थिर किया है। डॉ. कोछड़ का यह कालनिर्धारण इसलिए यथार्थ के अधिक निकट है कि 'परमात्मप्रकाश' में महाकवि स्वयंभू (8वीं, 9वीं शती) द्वारा प्रणीत महार्घ अपभ्रंश महाकाव्य 'पउमचरिउ' की अनेक भाषिक प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का अनुसरण परिलक्षित होता है।

कवि जोइंदु के दो ग्रन्थ सर्वप्रसिद्ध हैं—'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार'। यहाँ मेरी अभीप्सा 'परमात्मप्रकाश' के रचना-वैशिष्ट्य पर प्रकाश-निक्षेप करने की है। इस कार्य के लिए मुझे प्राकृत जैनशास्त्र शोध–प्रतिष्ठान, वैशाली से 'परमात्मप्रकाश' की जो प्रति उपलब्ध हुई है, वह श्रीब्रह्मदेव की संस्कृत वृत्ति से समन्वित है। पं. जिनदत्त उपाध्याय के पुत्र पं. कालचन्द्र उपाध्याय ने इसका संशोधन किया है और मराठी में इसके दोहों का भाषार्थ भी प्रस्तुत किया है। यह संस्करण श्री जिनवाणी-प्रसारक शान्तिसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मालगाँव (महाराष्ट्र) से सन् 1939 ई. में प्रकाशित और एस. बी. लिथो एण्ड प्रिंटिंग प्रेस, साँगली से श्री बी. एन. कुलकर्णी द्वारा मुद्रित है।

कवि जोइंदु के 'परमात्मप्रकाश' का वर्ण्य विषय दो महाधिकारों में विभक्त है। प्रथम महाधिकार में 126 दूहे या दोहे हैं और द्वितीय महाधिकार में 219 दोहे। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल 345 दोहे हैं। 'परमात्मप्रकाश' साधक कवि जोइंदु और उनके प्रबुद्ध शिष्य भट्ट प्रभाकर के संवाद-रूप में उपन्यस्त हुआ है। भट्ट प्रभाकर द्वारा पूछे गये आत्मा–परमात्मा-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही जोइंदु ने 'परमात्मप्रकाश' नाम से इस ग्रंथ की रचना की है। प्रथम महाधिकार में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में विकल परमात्मा और सकल परमात्मा की परिभाषा प्रस्तुत की गई है, साथ ही जीव की स्वशरीरप्रमाणता और द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय सम्यक्त्व, मिथ्यात्व आदि की चर्चा पल्लवित हुई है। द्वितीय महाधिकार में मोक्षस्वरूप, मोक्षफल, मोक्षमार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप-पुण्य की समानता और परमसमाधि का वर्णन हुआ है।

सुबुद्ध शिष्य भट्ट प्रभाकर शुद्ध आत्मतत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इसलिए वह पहले पंच परमेष्ठी को नमस्कार निवेदित करता है फिर अपने गुरु जोइंदु से प्रार्थना करते हुए कहता है—

हे स्वामी, संसार में रहते हुए मेरे अनन्त काल बीत गये, पर मुझे कुछ भी सुख नहीं हुआ इसके विपरीत महान् दुःख ही मिला है । चार गतियों—मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति और देवगति के दुःखताप के विनाशक जो परमात्मा हैं, उनके स्वरूप को समझाने की कृपा करें । (9–10)

भट्ट प्रभाकर की प्रार्थना सुनकर जोइन्दु ने देहात्मपरिमाणवादी दृष्टि से परमात्मा का जो विशद निरूपण किया उसका सामासिक स्वरूप इस प्रकार है—

जो त्रिभुवनवन्दित और सिद्धिप्राप्त है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता भी जिसका ध्यान करते हैं, जो हर्ष-विषाद आदि के संकल्प-विकल्प में पड़े हुए चिन्त (लक्ष्य) को निर्विकल्प भाव या एकमात्र आनन्दस्वभाव (अलक्ष्य) से पकड़कर स्थिर या क्षोभहीन रहता है, उसे परमात्मा समझो । (1.16)

जो वेद, शास्त्र और इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, जो केवल निर्मल ध्यान या समाधि का विषय है, वही अनादि परमात्मा है । (1.23)

जो अनादि अनंत देवता देह के मन्दिर में रहता है, फिर भी देह से भिन्न रहनेवाला उसका आत्मशरीर केवलज्ञान से प्रकाशित रहता है, निस्सन्देह वही परमात्मा है । (1.32)

देह में रहकर भी जो निश्चय ही देह को नहीं छूता और न ही उसका स्पर्श करता है, वीतराग निर्विकल्प समाधि में अवस्थित और देह के ममत्वपरिणाम से रहित उस शुद्धात्मा को परमात्मा जानो । (1.34)

व्यवहारतः शुभाशुभ कर्मों से निबद्ध होकर भी जो शुद्ध निश्चय से कर्मरहित है, केवलज्ञान आदि अनन्तगुण को छोड़कर जो कर्मरूप में परिणत नहीं होता, उसे परमात्मा समझो । (1.46)

आत्मा की अभेद स्थिति के सम्बन्ध में जोइन्दु का तर्क स्वयं प्रमाण है । उनकी दृष्टि में आत्मज्ञ होना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, इसलिए अनेकान्तरूप आत्मा की सही पहचान आवश्यक है । वे कहते हैं—

काल पाकर जैसे-जैसे मोह गलता है वैसे वैसे जीव आत्मदर्शन पाकर अवश्य ही ही आत्मज्ञ हो जाता है । आत्मा न गोरा है, न काला है और न लाल ही है । आत्मा न तो सूक्ष्म है, न स्थूल ही । ज्ञानी उसे ज्ञान की दृष्टि से ही देख पाता है । आत्मा न ब्राह्मण होता है, न वैश्य, न क्षत्रिय होता है, न शूद्र । वह पुरुष, स्त्री या नपुंसक भी नहीं होता । अर्थात् वह परमहंस, संन्यासी, मुण्डी, तिलक-छापाधारी आदि लिंगों (चिह्नों) से मुक्त होता है । जो ध्यानी होता है वही आत्मा को असली रूप में पहचानता है । आत्मा न गुरु होता है और न शिष्य ही । वह स्वामी भी नहीं होता है, भृत्य भी नहीं । वह शूर-कायर, ऊँच-नीच कुछ भी नहीं होता । आत्मा मनुष्य भी नहीं होता, देव भी नहीं, तिर्यक और नारक भी नहीं, बहिरात्मा

को स्वात्मतत्त्व से जोड़नेवाले ज्ञानी ही उसे ठीक-ठीक पहचानते हैं। आत्मा पण्डित भी नहीं होता, मूर्ख भी नहीं, वह ईश भी नहीं होता, अकिंचन भी नहीं, वह तरुण, बालक, बूढा कुछ भी नहीं होता, अकिंचन भी नहीं होता। व्यवहारनय से जीव-स्वभाव को जानकर उसे शुद्धनय से शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न स्वात्मा में नियोजित करनेवाले ज्ञानी ही उसके सही रूप को जानते हैं। आत्मा न पुण्य है, न पाप, न धर्म है, न अधर्म। सभी आत्मा चेतन हैं। चेतना भाव के बिना कोई आत्मा सम्भव नहीं। (1.86–93)

जोइन्दु कवि द्वारा विवेचित आत्मा-परमात्मा की परिभाषा से सन्तुष्ट होने के बाद भट्ट प्रभाकर ने उनसे मोक्ष के स्वरूप-निरूपण की प्रार्थना की—"हे श्री गुरु, मुझे मोक्ष, मोक्ष के कारणभूत तथ्य तथा मोक्षसम्बन्धी जो फल है, उसे बताइए, ताकि मैं परमार्थ को जान सकूं।" (2.126)

भट्ट प्रभाकर की मोक्ष-विषयक जिज्ञासा जानकर जोइन्दु ने कहा—

तीनों लोक में मोक्ष के सिवा जीवों के सुख का कोई दूसरा कारण नहीं है इसलिए मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। वीतराग साधु कहते हैं, कर्म-कलंक से विमुक्त जीवों का परमात्मलाभ ही मोक्ष है। त्रुटिरहित अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्तसुख से दूसरा कोई शाश्वत मोक्षफल नहीं है। (2.135–136)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही जीवों का मोक्ष हेतु है। इन तीनों को अभेदनय से आत्मा जानो। अभेदात्मक रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा ही मोक्षमार्ग है। जो स्वयं अपनी आत्मा को देखता है, जानता है और आचरण करता है, अर्थात् राग आदि समस्त विकल्पों का त्याग करके अपने स्वरूप में स्थिर होता है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नत्रय में परिणत वही जीव या पुरुष स्वयं मोक्षमार्ग हो जाता है, इस प्रकार रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है। (1.138–139)

कहना न होगा कि जोइंदु ने 'परमात्मप्रकाश' में लोकोक्तिसिक्त हिन्दी की समानान्तर अपभ्रंश भाषा में निबद्ध सरल मनोहर दोहों में जैनागमों में प्रतिपादित आत्मोन्नयनकारी धर्म, दर्शन और आचार के समस्त सारभूत तथ्यों को पुनराख्यापित करके उन्हें सर्वजनसुलभ बनाने का आचार्योचित आदर्श कार्य किया हे। दूसरे शब्दों में, जोइंदु ने ऊँचे आध्यात्मिक तथ्यों को सर्वसुगम भाषा में सामान्य से सामान्य जन तक पहुंचाने का श्लाघनीय राष्ट्रीय कार्य किया है।

जोइंदु ने अपने दोहों की रचना में लोकोक्तियां और वाग्धाराओं (मुहावरों) का विनिवेश आध्यात्मिक तत्त्वों को सर्वजनबोध्य बनाने की दृष्टि से ही किया है। दो एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मूढा सयलु वि कारिमउ, भुल्लउ मं तुस कंडि।
सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ, घरु परियणु लहु छंडि। 2.128

अर्थात्, हे मूढ जीव ! शुद्ध जीवात्मा को छोड़ अन्य सभी विषय विनश्वर हैं। तू भ्रम से भूसे को मत कूट। गृह, परिजन आदि की आसक्ति छोड़ निर्मल मोक्षमार्ग से प्रेम कर।

यहां 'भूसा कूटना' जैसा व्यर्थताबोधक लोकप्रचलित मुहावरा आवर्जक प्रासंगिक आसंग उपस्थिति करता है।

इसी प्रकार 'एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान' जैसी लोकोक्ति का पुनर्मूल्यांकन करते हुए युगचेता कवि जोइंदु ने कहा है कि जिसके हृदय में मृगनयनी का निवास है, उसके हृदय में परमात्मा का निवास सम्भव नहीं है। मूल दोहा इस प्रकार है—

जसु हरिणच्छी हियवडए, तसु णवि बंभु बियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ, बे खंडा पडियारि॥ 1.121

कवि जोइंदु ने संस्कृत की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' का पुनराख्यान इस प्रकार किया है—

पंचहँ णायकु वसिकरहु, जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ, अवसइं सुक्कहिँ पण्ण। 2.140

अर्थात्, पंचेन्द्रिय के नायक मन को वश में करो। मन को वश में कर लेने पर अन्य सारी इन्द्रियाँ वश में आजाती हैं। मन-रूपी मूल के विनष्ट हो जाने पर इन्द्रियरूपी वृक्ष के पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं।

शास्त्रदीक्षित अधीती कवि जोइंदु पर 'गीता' 'का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए केवल दो दोहे द्रष्टव्य हैं—

जा णिसि सयलहँ देहियहँ, जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ।
जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ। 2.46 (1)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः। गीता, 2.69

जिण्णिं वत्थि जेम बुहु, देहु ण मण्णइ जिण्णु।
देहिं जिण्णिं णाणि तहँ, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु। 2.179

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही। गीता, 2.22

'परमात्मप्रकाश' न केवल अध्यात्मशास्त्र, अपितु नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी अनुपम ग्रन्थ है। मध्यकालीन सन्त कवि तुलसी, कबीर आदि के दोहों ने नैतिक और आध्यात्मिक उन्नयन के क्षेत्र में जो विस्मयकारी काम किया, वही काम इनके आठ नौ शतक पूर्ववर्ती जोइंदु के प्रभावकारी दोहों ने किया था। इसलिए परमात्मप्रकाश का गीता के श्लोकों के साथ ही मध्यकालीन सन्तकवियों के दोहों का समानान्तर अध्ययन अपेक्षित है। सच पूछिए तो मनीषी जनकवि जोइंदु (जो 'पाहुडदोहा' के स्वानामधन्य रचयिता मुनि रामसिंह के ही प्रतिरूप माने जाते हैं) का 'परमात्मप्रकाश' सांस्कृतिक उत्कर्ष की दृष्टि से जनचेतना में आत्मचेतना को प्रतिष्ठित करनेवाला अपूर्व आगमकल्प ग्रन्थ है।

परमप्पयासु में बंध-मोक्ष संबंधी विचार

—श्री श्रीयांशकुमार सिंघई

□

मुनिवर जोइन्दु का परमप्पयासु, सचमुच, एक ऐसे पिपासु की चिरपिपासा को परितृप्त बनाने में प्रेरणाभूत है, जो अमरत्व के चिद्बिन्दुओं से संतृप्त होता हुआ परमत्व के परम प्रकाश से आलोकित-आलोडित होना चाहता है।

प्रत्येक प्राणी अपनी इच्छाओं के उत्स में उस रहस्य का अन्वेषण करना चाहता है जिसके साहचर्य या प्रभाव से अक्षय आनन्द की प्राप्ति अथवा आकुलवृत्ति का परिहार होता हो। एतदर्थ अपरिहार्य पुरुषार्थ की प्रेरणा देने में परमप्पयासु अपनी शब्दरश्मियों से पाठक की बुद्धि को उस रहस्य रंगमंच पर पहुंचा देता है जहां वह आत्मालोचन की प्रक्रिया के फलस्वरूप शैथिल्य, अन्धविश्वास एवं धर्माडम्बर के घटाटोप से व्यावृत्त होकर अध्यात्म अर्थात् आत्मकेन्द्रित रहस्य को ही परमत्व प्राप्ति का परम उत्स समझने लगता है।

जैनेश्वरी देशना तथा युक्त्याश्रयणी बुद्धि के नियोग से इस जगत् में षड्-विध अनन्त सत् हैं। आत्मा भी उनमें एक सत् है जिसकी त्रिविध अवस्थाएं ही बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा हैं। मुनिराज जोइन्दु का प्रस्तुत ग्रन्थ नाम से परमप्पयासु (परमात्मप्रकाश) भले हो परन्तु उसमें केवल परमात्मदशा का ही प्रकाश नहीं है अपितु बहिरप्पा (बहिरात्मा) और अन्तरप्पा (अन्तरात्मा) का भी है। ऐसा क्यों? विचारतः ज्ञात होता है कि मुनिराज जोइन्दु स्वभावतः आत्मा को परम ही मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही परमात्मा है।

किसी भी वस्तु का स्वभाव कदापि अपरम नहीं होता क्योंकि कोई भी वस्तु कभी भी अपने स्वाभाविक गुण-धर्मों का परित्याग नहीं करती और न ही मूलतः उसमें ऐसा कोई परिवर्तन होता है जिससे उसके सत्व को नकारा जा सके। बहिरात्मा और अन्तरात्मा मूलतः आत्मा ही हैं, अपरम भी नहीं हैं, अतः उनका प्रकाश परमप्पयासु में अप्रासंगिक नहीं है।

जीव-आत्मा या जीवात्मा के प्रति बंध और मोक्ष का विचार प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने अपनी मनीषा के प्रवाह में किया है। यह विचार प्राणिमात्र के लिए अतिशय महत्त्व का है अतः जैनदार्शनिकों ने भी अपनी मनीषा को यहां व्यापृत किया है। उनकी दृष्टि में बंध और मुक्ति के विचार का औचित्य तभी है जब यह माना जाय कि आत्मा स्वतन्त्र है और बंध या मुक्ति की परिस्थिति भी उसकी सहज स्वतन्त्रता का हनन नहीं करती। यहां स्वतन्त्रता का तात्पर्य आत्मा के स्वकर्तृत्व से है।

जैन दृष्टि यह मानती है कि पदार्थों के परिणमन में परनिमित्तता होने पर भी परकर्तृत्व सर्वथा नहीं है। अतः आत्मगत स्वकर्तृत्व की मर्यादा में ही बन्ध और मुक्ति का विचार महत्त्वपूर्ण होता है। बन्ध या मुक्त दोनों ही दशाओं की अधिकरणिक शरण-स्थली आत्मपरिधि ही तो है। क्या बंध अवस्था में आत्मा ही बहिरात्मा नहीं कहलाता या बंध से व्यावृत्त होने के प्रयास में रत अन्तरात्मा आत्मा नहीं कहलायेगा ? तथा मुक्तदशा में पहुंचकर क्या आत्मा ही परमात्मा नहीं होता ?

बन्ध और मुक्त ये दोनों ही अवस्थाएं आत्मा में तभी सिद्ध होती हैं जब आत्मा को कर्मसापेक्ष माना जाय। निरपेक्षतया तो आत्मा में न बंध है न मोक्ष। इसलिए जोइन्दु ने कहा– आत्मा में बंध-मोक्ष को कर्म करता है, आत्मा तो मात्र जानता-देखता है (1.65)।

कर्म को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं—

विसय-कसायहिं रंगियहं ते अणुया लग्गंति।
जीव पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति।। 1.62

अर्थात् विषय-कषायों से रंजित और मोहित जीवों के जीव-प्रदेशों में जो अणु लग जाते हैं जिनेन्द्र उन्हें कर्म कहते हैं।

जीव और कर्म दोनों ही अनादि हैं अतः न तो कर्म जीवजनित है और न ही जीव कर्मजनित है। जीवों के साथ कर्म अनादि से हैं अतः जीवों और कर्मों का सम्बन्ध भी अनादि से ही है (1.59)। इस प्रकार आत्मा की बंधदशा कर्मसापेक्षता में आदिरहित साबित होती है तथापि उसका अन्त संभाव्य है क्योंकि बंध की दशा में भी आत्मा कर्म नहीं होता और न ही कर्म आत्मा होता है (1.49)। दोनों का ही स्वरूप अस्तित्व सदा अक्षीण बना रहता है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों से बंधकर या नोकर्मरूप शरीर में रहकर भी आत्मा उन सहित अर्थात् सकल-सदेह नहीं होती (1.36) अपितु अनुत्पन्न अमरणधर्मा रहकर बंध-मोक्ष को भी नहीं करता (1.68)।

यहाँ प्रश्न है कि जब आत्मा बंध-मोक्ष को नहीं करता तो वह उसका भोक्ता भी कैसे हो सकता है ? ऐसी स्थिति में बंध-मोक्ष का कर्त्ता-भोक्ता कौन है ? समाधान है कि बंध और मोक्ष परस्पर सापेक्ष कार्य हैं, न अकेला आत्मा उनका कर्त्ता है और न ही अकेला कर्म। सापेक्ष कार्य होने से उनका भोक्ता कर्मसापेक्ष आत्मा को ही जानना चाहिये। जोइन्दु ने जो कर्म को बंध-मोक्ष का कर्त्ता कहा है वह अध्यात्मनय की अपेक्षा से है। इसका अर्थ यही है कि आत्मा के निमित्तभूत साहचर्य के बिना कर्म को और कर्म के निमित्तभूत साहचर्य के बिना आत्मा को बन्ध-मोक्ष का कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

"सांसारिक सुख-दुःख कर्म ही उत्पन्न करते हैं, आत्मा तो जानता-देखता है (1.64)।"—जोइन्दु का यह कथन भी उपर्युक्त नय मर्यादा में अनुचित या अप्रमाणित नहीं है। सांसारिक सुख-दुःख अशुद्ध निश्चय नय से जीवजनित और शुद्ध निश्चय नय से कर्मजनित माने जाते हैं।

कर्मों के निमित्त को प्रमुख करके ही जोइन्दु कहते हैं—"कर्मों द्वारा ही जीव त्रिभुवन में यहाँ-वहाँ लाया-लेजाया जाता है, कर्म के बिना आत्मा पंगु है (1.56)।" उनके इस नैमित्तिक कथन का अभिप्राय है—"कर्मों के निमित्तभूत होने पर आत्मा अपनी क्रियावती शक्ति से ही त्रिभुवन में गमनागमन करता है। जैसे लंगड़ा बैसाखी के बिना चल-फिर नहीं सकता उसी प्रकार आत्मा कर्मों के बिना गमनागमन नहीं कर सकता। जिस प्रकार बैसाखी लंगड़े को चलाती नहीं, चलने में सहारा-सहायक या निमित्तमात्र होती है उसी प्रकार कर्म भी आत्मा को गमनागमन नहीं कराते, गमनागमन में मात्र सहायक या निमित्त होते हैं।"

जैसे परिसर में वायु सर्वत्र पसरी रहती है वैसे ही परमप्पयासु में आत्मा और कर्मों के बीच भेद सिद्ध करनेवाली संजीवनी विवेकख्याति (भेदविज्ञान) सर्वविध कथनों में पसरी है, प्रकाशित है। वस्तुतः भेदविज्ञान के बल पर ही जोइन्दु आत्मा को या उसके परमत्व को स्पष्ट कर पाते हैं।

संसार में जो कुछ भी जीव-स्वभाव से भिन्न है वह सभी जीव के लिए अन्य है। कर्म जीव के साथ बंधे हैं फिर भी जीव से भिन्न स्वभाववाले होने से अन्य ही हैं। अन्य से सुख कहाँ ? सुख तो जीव स्वभाव में है और वह उसी से अर्थात् जीवस्वभाव की उपासना-साधना से ही अभिव्यक्त होता है। कर्म चाहे ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म हों या शरीरादि नोकर्म या रागद्वेषादि भावकर्म सभी जीव-स्वभाव से भिन्न होने के कारण अचेतन द्रव्य है (1.73)। इसलिए हे जीव ! तू ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य सभी को परभाव समझ और मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि सकल दोषों के साथ आठों कर्मों को छोड़ने योग्य मान तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मा का ही चिन्तवन कर (1.74–75)। नरनारकादि जीव के भेद कर्मकृत अवश्य हैं पर जीव कदापि कर्मरूप या कर्मकृतभावों के अनुरूप नहीं होता क्योंकि काल पाकर वह कर्मों या कर्मकृतभावों से विमुक्त हो जाता है (2.106)। कर्मकृत नरनारकादि विभाव पर्यायों में रत अर्थात् उनमें ही अपनत्व माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है (1.77)।

आचार्य कुन्दकुन्द,[2] आचार्य उमास्वामी,[3] आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती[4] आदि के समान बंध हेतुओं का उल्लेख जोइन्दु स्पष्ट शब्दों में नहीं करते तथापि स्थिति-अनुभाग बंध के मूल कारणों को वे प्राकृत प्रवाह में ही सुस्पष्ट कर देते हैं। उनके अनुसार बंध के मूल हेतु मिथ्यादृष्टिसम्पन्नभाव (मिथ्यात्व) और रागादि परिणाम हैं। इस विषय में उनकी स्पष्टोक्ति द्रष्टव्य है—

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहुविह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ।। 1.77

अर्थात् नरनारकादि विभाव पर्यायों में रत मिथ्यादृष्टि जीव उन सभी बहुविध कर्मों को बांधता है जो उसे संसार में भ्रमण कराते हैं। मिथ्यात्व से उपार्जित कर्मों की शक्ति भी उन्होंने सुस्पष्ट[5] की है।

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ ।
णाणविक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइँ ।। (1.78)

अर्थात् मिथ्यात्व द्वारा अर्जित कर्म बलिष्ठ, घने, सचिक्कण, गुरु और वज्र के समान होकर ज्ञानविलक्षण जीव को भी उत्पथ में पटक देते हैं। इस प्रकार मुनिराज जोइन्दु मिथ्यात्व को बंध का प्रमुख व प्रबल कारण स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं अपने इस कथन को वे व्यतिरेक विधान से भी दृढ़ करते हैं। व्यतिरेक विधान है आत्मा को अपने स्वरूप से जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र ही कर्मों को छोड़ता है (2.76)। यदि सम्यक्त्व कर्मों से मुक्ति का कारण है तो सम्यक्त्वविरोधी मिथ्यात्व कर्मों के बन्धन का कारण क्यों नहीं? सुतरां सिद्ध ही है। कितना सीधा और सरल प्रस्तुतीकरण है उनका मिथ्यात्व को बंध का हेतु बताने में।

मोह के मूलतत्त्व हैं—मिथ्यात्व और कषायपरिणाम। तभी तो मोह कर्म के उदय में जीव मिथ्यात्व और कषाय परिणति युक्त होते हैं। जीव में मिथ्यात्व के बिना कषायें रह सकती हैं पर कषायों के बिना मिथ्यात्व नहीं रह सकता। अतः मोह का मूलतम तत्त्व मिथ्यात्व जानना चाहिये। सभी आचार्यों और विद्वानों ने मोह को निर्विवादतः बंध का कारण माना है। जोइन्दु कहते हैं—जिस मोह से कषायें उत्पन्न होती हैं उस मोह को तू छोड़ क्योंकि मोह और कषायों से रहित जीव ही समभाव पाता है (2.42) और उसे ही मोह गलने से सम्यक्त्व होता है (1.85)।

सुस्पष्ट है कि मोह सम्यक्त्व या समभाव प्राप्ति में बाधक कारण है। अर्थात् बाधाओं का जनक है। आत्मा के लिए बाधक कौन हैं? ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और मोह रागद्वेषादि भावकर्म ही तो बाधक हैं। इस प्रकार मोह या मिथ्यात्व आत्मा के प्रतिबन्धक-बाधक कर्मों का कारण है। जोइन्दु मोह को कर्मोपार्जन में मूलकारण स्वीकारते हैं अतः उनका कथन है—

भुंजंतु वि णियकम्मफलु मोहइँ जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो परकम्मु जणेइ ।। 2.79

इसका अर्थ है—जो जीव अपने कर्मफल को भोगता हुआ मोह से सुन्दर-असुन्दर अर्थात् रागद्वेषरूप भाव करता है वह कर्म को उपजाता है।

इस प्रकार मोह के अधिष्ठातृत्व में रागद्वेषपरिणाम बंध के कारण होते हैं। जोइन्दु सूक्ष्मतम राग को भी बन्ध का कारण मानते हैं क्योंकि वे लिखते हैं—परमार्थ अर्थात् निज-शुद्धात्म तत्त्व को शंकामात्र से जानकर भी जो जीव जब तक अपने मन में अणुमात्र भी राग करता है तब तक वह कर्मों से मुक्त नहीं होता (2.81)। उनके अनुसार कर्मफलभोगकाल में राग ही बंध का कारण है कर्मफल अर्थात् कर्मों का उदय नहीं। उनके ही शब्दों में—

भुंजंतु वि णिय-कम्मफलु जो तहिं राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ।। 2.80

अर्थात् अपने कर्मफल को भोगता हुआ भी जो उनमें राग नहीं करता वह कर्म नहीं बांधता अपितु उसके विराग भाव से संचित कर्म भी विलय/नाश को प्राप्त होते हैं।

कर्मोदय काल में भी राग-द्वेष करने से आत्मा कैसे बचे ? इसके उत्तर में जोइन्दु कहते हैं—ज्ञान को छोड़कर आत्मा का अन्य स्वभाव नहीं है इसलिए इस ज्ञान को जानकर पर में राग मत कर (2.155)। देह, परिग्रह और इन्द्रियों के विषय-भोगों में राग उत्पन्न न हो इसलिए देह, परिग्रह और इन्द्रिय विषय-भोगों से भिन्न अपने आत्मस्वभाव को जानना चाहिये (2.49–50–51)। वस्तुतः आत्मा का ज्ञान या ध्यान ही रागोत्पत्ति के अभाव में कारण है। जो जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हुआ आत्मा का ध्यान करता है। उसका दीर्घ संसार भी नष्ट हो जाता है (1.32)। आत्मभावना ही संसार के अंत को प्राप्त करती है (1.72)। इसके विपरीत आत्मभावना से च्युत संसारी जीव धर्म अर्थात् वीतरागता पाने के प्रयत्न में पुण्यकर्म और पापकर्म के भेद को स्वीकार करके मोह के भ्रमजाल में पतित होता है। पुण्य और पाप में कोई भी श्रेष्ठ उत उपयोगी नहीं है। दोनों ही मोह में मशगूल करनेवाले हैं। संसार परिभ्रमण का कारण पुण्य-पाप को समान न मानने-वाला मोह ही है। एतदर्थ जोइन्दु का उपदेश है—

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ।। 2.55

जो जीव पुण्य और पाप इन दोनों को समान नहीं मानता वह इस मोह से चिरकाल तक दुःख सहता हुआ संसार में घूमता रहता है। पुण्य और पाप के सन्दर्भ में परमप्पयासु की निम्न धारणा ही अनुग्रह के लिए पर्याप्त है—

"पाप के फल से जीव दुःख पाता है और दुःख मिटाने के लिए धर्माभिमुख होता है इसलिए उन पापकर्मों का उदय भी श्रेष्ठ है जो जीव में दुःख उत्पन्न करके शिवमति अर्थात् मोक्ष के उपाय योग्य बुद्धि पैदा कर देता हैं (2.56)। किन्तु निदान बन्ध से उपार्जित पुण्य भला नहीं होता क्योंकि वह जीवों को राज्यादि वैभव प्राप्त कराकर शीघ्र ही उनमें दुःख

उत्पन्न कर देता है (2.57)। यदि पुण्य मोह-सम्पृक्त या मिथ्यात्वमिश्रित हो तो पापपरिणाम का ही जनक होता है क्योंकि पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से मद उत्पन्न होता है, मद से मतिमोह हो जाता है और बुद्धि के मोहित या भ्रष्ट हो जाने से पाप का संचय होता है। इसलिए ऐसा पुण्य हमारे लिए नहीं होवे (2.60)। निजदर्शन अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व के अभिमुख होकर मरण भी भला है, इसलिए हे जीव! तू उसे तो प्राप्त कर किन्तु निजदर्शन से विमुख होकर पुण्य मत कर क्योंकि जो लोग निजादर्शनाभिमुख हैं वे अनन्तसुख पाते हैं और जो निजदर्शन के बिना केवल पुण्य करते हैं वे अनन्त दुःख सहते हैं (2.58–59)।

देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से पुण्य होता है कर्मक्षयरूप मोक्ष नहीं होता तथा देवशास्त्र-गुरु की निन्दा से नियमतः पाप होता है जिसके कारण ही जीव संसार में भ्रमण करता है। पापपरिणाम से उसे नरक और तिर्यंच गति मिलती है तथा पुण्यपरिणाम से देवगति एवं पुण्यपापरूप मिश्रपरिणाम से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है, निर्वाण तो पुण्य-पाप दोनों के ही क्षय से होता है (2.61–63)। पुण्य-पापरूपी कर्मजाल को दग्ध करने का उपाय है अपने परमात्म-स्वभाव में अनुराग करना। अर्धनिमिष के लिए भी यदि कोई परमात्मस्वभाव में अनुराग करता है तो उसके पापरूप कर्मजाल दग्ध हो जाते हैं जैसे अग्निकणिका काष्ठगिरि को दग्ध कर देती है (1.114)।

जोइन्दु के अनुसार मोक्ष को छोड़कर त्रिभुवन में कोई भी सुख का कारण नहीं है (2.9)। मोक्ष के स्वरूप निर्धारण में वे कर्मों से छूटने को महत्त्व नहीं देते अपितु जिस कारण से कर्म छूटते हैं उसे महत्त्व देते हैं। उनके ही शब्दों में—

जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु।
कम्मकलंक विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिं साहू॥ 2.10

अर्थात्—कर्मकलंक से विमुक्त जीवों को जो परमात्मलाभ होता है वह मोक्ष है, ज्ञानी साधु ऐसा कहते हैं।

सर्व पुरुषार्थों में मोक्ष ही प्रमुख (2.3) व सुखकारक (2.4-8) है। कर्म-विमुक्त जीव में प्रकट हुए अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख का नाश एक समय के लिए भी नहीं होना अर्थात् उनका शाश्वतरूप से जीव में ही बने रहना मोक्ष का फल है (2.11)।

मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ-प्रवर्धन की प्रेरणा देने हेतु जोइन्दु जहाँ दान-पूजादि रूप श्रावकधर्म को प्रारम्भिक भूमिका में परम्परा से मोक्ष का कारण कह देते हैं वहीं वे उत्कृष्ट भूमिका में शुक्ल ध्यान से साध्य व मुनिधर्म के अनुरूप सार्थक तपश्चरण को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। वे लिखते हैं—"तूने मुनिवरों को दान नहीं दिया, जिननाथ की पूजा नहीं की, पंचपरमेष्ठियों की वंदना नहीं की तो तुझे शिवलाभ क्यों होगा (2.168)? तथा तूने सारे परिग्रह भी नहीं छोड़े, उपशमभाव भी नहीं किया, जिसमें योगियों का अनुराग है उस

शिवप्रदमार्ग को भी नहीं माना, पुण्य-पाप को भी दग्ध नहीं किया तथा निजबोध के परिणाम में कर्तव्यभूत घोर तपश्चरण भी नहीं किया तो तेरा संसार कैसे छूटे (2.166-167) ?

जोइन्दु के मत में आत्मा का एक अद्वितीय विशुद्धभाव ही मुक्ति का मार्ग है। वे लिखते हैं—संसारसागर में पतित जीवों को जो चतुर्गतिदुःखों से निकालकर मोक्ष में धरता है ऐसे धर्म को आत्मा का अपना विशुद्धभाव समझकर उसे ही अंगीकार करो। सिद्धि सम्बन्धी पन्थ तो एक विशुद्धभाव ही है जो मुनि उस भाव से विचलित होता है वह विमुक्त कैसे होगा (2.68-69) ?

आत्मा का अपना अद्वितीय विशुद्धभाव वस्तुतः आत्मस्थ रत्नत्रय परिणाम ही है अतः "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"[6] से जोइन्दु प्रोक्त लक्षण का वैषम्य या विरोध नहीं समझना चाहिये। पुनश्च मुनिराज जोइन्दु स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र इन तीनों को मोक्ष का कारण कहकर तीनों को ही आत्मा मानने का उपदेश (2.12) देते हैं तथा जो जीव अपनी आत्मा को आत्मा से देखता है अर्थात् आत्मा का श्रद्धान करता है, जानता है और उसमें ही अनुचरण करता है वही जीव मोक्ष का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है (2.13), अपने इस कथन से उपर्युक्त एकता को स्पष्ट भी कर देते हैं।

उनकी दृष्टि में रत्नत्रय का भक्त वही है जो गुणनिलय आत्मा को छोड़कर अन्य किसी को भी ध्येय नहीं बनाता तथा निर्मलरत्नत्रय को ही निज आत्मा मानकर शिवपद का आराधक होता हुआ केवल उसे ही ध्याता है (2.31–32)।

आत्मज्ञान से बाह्य ज्ञान मोक्ष के लिए कार्यकारी नहीं होता क्योंकि आत्मज्ञान बिना तपश्चरणविषयक ज्ञान या तप दुःख का ही कारण होता है। आत्मज्ञान वह है जो मिथ्यात्व रागादि परिणामों से रहित हो, जिससे मिथ्यात्व या रागादि बढ़ते हैं वह आत्मज्ञान नहीं माना जा सकता। क्या रविरश्मियों के सामने भी तमोराग ठहर सकता है। (2.72–76) ?

स्वभावतः सभी जीव जन्म-मरण से विमुक्त हैं, ज्ञानमय हैं, जीवप्रदेशों से भी समान हैं तथा सभी आत्मीय गुणों से भी एक जैसे ही हैं (2.97) ऐसे समभावनिष्ठ ज्ञान द्वारा जो जीव अपने रागद्वेष का परिहार कर सभी जीवों को समान जानते हैं वे ही जीव समभाव परिनिष्ठित होने के कारण शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं (2.100)।

समभावनिष्ठ आत्मज्ञान के बिना वंदन, निन्दन, प्रतिक्रमण या तपश्चरण बेकार है क्योंकि संयम, शील, जप, तप, ज्ञान, दर्शन और कर्मक्षय इत्यादि शुद्धोपयोगसंयुक्त आत्मा में ही होते हैं अतः शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय शुद्धभाव ही प्रधान है (2.67)। इस सन्दर्भ में उनके कथन की स्पष्टता भी देखिये—एक ज्ञानमय शुद्धभाव को छोड़कर वंदन, निन्दन प्रतिक्रमण आदि ज्ञानी को युक्त नहीं है। अथवा वंदना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमण करो इससे

कुछ नहीं होने का। जिसके अशुद्ध भाव है उसके संयम ही नहीं होता। मन की शुद्धि के बिना संयम कहाँ (2.65–65) ?

परमार्थ का अनुभवन अर्थात् शुद्धोपयोग के बिना कोई शास्त्रों को पढ़ता है, तपश्चरण करता है या तीर्थाटन करता है तो उसे मोक्ष नहीं मिलता (2.82–85) अपितु परमार्थ का अनुभवन करते हुए मोक्ष की वांछा भी छोड़ देने पर मोक्ष होता है। इस सन्दर्भ में उनके ही विचार प्रस्तुत हैं—

"हे योगी ! तू मोक्ष की भी चिन्ता मत कर क्योंकि मोक्ष चिन्ता करने से नहीं होता, वांछा के त्याग से होता है। तू तो परमार्थ अनुभवन अर्थात् शुद्धात्मसंगोपन में ही अपना उपयोग लगा। मिथ्यात्वरागादि से उपार्जित जिन कर्मों ने तुझे बांधा है वे ही कर्म मुक्त भी करेंगे (2.188)। कितना सार्थक है यह कथन ! वास्तव में निराकुल निश्चय की निश्चितता ही निर्वाण है।

---

1. 2.174 परमात्मप्रकाश, 1978, रायचन्द्र ग्रन्थमाला आगास।
2. समयसार, गाथा 164। पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा 149।
3. तत्वार्थसूत्र, 8.1।
4. द्रव्यसंग्रह, गाथा 33।
5. परमात्मप्रकाश, 1.78, टीकाकार ब्रह्मदेव सूरि के अनुसार।
6. तत्वार्थसूत्र, 1.1।

परमात्मप्रकाश एक विश्लेषण

—डॉ. गदाधर सिंह

□

जैन-अपभ्रंश साहित्य में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं—प्रबन्ध एवं मुक्तक। प्रबन्धात्मक साहित्य में एक कोटि उन रचनाओं की है जिन्हें पुराण नामान्त या चरित्र नामांत कहा जा सकता है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' या स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' को इस वर्ग में रखा जा सकता है। प्रबन्धात्मक साहित्य में कुछ ऐसी भी कृतियां उपलब्ध हैं जिनका महत्त्व साहित्य की दृष्टि से अत्यल्प है। इनकी रचना किसी व्रत, अनुष्ठान या तीर्थ के महात्म्य को लेकर हुई है। मुक्तक काव्य-धारा के अन्तर्गत रहस्यवादी धारा और उपदेशात्मक धारा—ये दो धाराएँ मिलती हैं। योगीन्दु, मुनि रामसिंह, सुप्रभाचार्य, महानंदि, महचंद आदि रहस्यवादी धारा के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उपदेशात्मक धारा के अन्तर्गत देवसेन, जिनदत्त सूरि, जयदेव मुनि आदि की गणना की जा सकती है।

जोइन्दु की विचारधारा के अध्ययन से यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि यद्यपि उन पर जैन-धर्म-दर्शन की छाप स्पष्ट है फिर भी वे सम्प्रदाय-विशेष की सीमा रेखा में आबद्ध नहीं हो सके हैं। जिस क्रान्तिकारी विचारधारा का श्रीगणेश उपनिषदों से हुआ और बुद्ध, महावीर से होता हुआ सिद्धों एवं सन्तों तक आया उसी विचारधारा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में जोइन्दु की यह रचना है। जोइन्दु की यह मान्यता है कि विभिन्न स्रोतों से निकलकर विभिन्न मार्गों से बहती हुई नदियां जिस प्रकार एक ही महासमुद्र में

विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अनेक मार्गों से चलकर एक ही चिरन्तन सत्य की खोज करते हैं। 'परमात्मप्रकाश' शब्द की व्याख्या करते हुए कृतिकार ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार सभी कर्मों एवं दोषों से रहित, केवलज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य इन अनन्तचतुष्टयों से सम्पन्न जो जिनेश्वरदेव हैं वे ही परमात्मप्रकाश हैं। जिस परमात्मा को मुनिगण ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध आदि नामों से पुकारते हैं। ये सभी नाम रागादिरहित जिनदेव के ही हैं। मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इन नाना प्रकार के नामों से जिनदेव की ही आराधना करते हैं।

जो परमप्पउ परमपउ, हरि हरु बंभु वि बुद्धु।
परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विसुद्धु ॥ 2.200

कवि ने परमात्मा को निरंजन माना है। यह निरंजन शब्द साहित्य में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् ने भी—"निरंजनं परमसाम्यमुपैति" से ब्रह्म का निरंजन होना स्वीकार किया है। शंकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' में ब्रह्म का स्वरूप निरूपित करते हुए उसे निरंजन कहा है—

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्ध विज्ञानघनं निरंजनम् ॥

सिद्ध सरहपाद ने परमपद को शून्य निरंजन माना है—

सुण्ण णिरंजण परमपउ, सुइणो माअ सहाव।
भावहु चित्त-सहावता, णउ णासिज्जइ जाव ॥ दोहाकोश, 138

कबीर ने भी ब्रह्म को निरंजन स्वीकार किया है—

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।

जोइन्दु ने निरंजन शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किया है। इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि, णाउ णिरंजणु तासु।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु। 1.19,20

अर्थात् जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है तथा जो जन्म-मरण से परे है, वही निरंजन है। जो क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से अलग है, जिसका कोई स्थान नहीं है तथा जिसका ध्यान नहीं हो सकता वही निरंजन है और वही उपास्य है।

जोइन्दु ने परम्परित विचारधारा की जड़ता को तोड़कर तथा अनेक अन्धविश्वासों का खंडन कर चिन्तन और भावन के जिन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उभारा है तथा सामान्य

आदमी की सामान्य सोच को जिस रूप में महिमामंडित किया है उससे उनके काव्य का महत्त्व शाश्वत एवं चिरकालिक हो गया है।

जोइन्दु ने देह को बहुत महत्त्व दिया है। शास्त्राचार्यों ने देह को कर्मबन्धन का मूल मानकर इसके प्रति अच्छी धारणा नहीं रखी है किन्तु जोइन्दु सरहपाद जैसे क्रान्तिकारी सिद्धों की पंक्ति में खड़े हैं जिन्होंने देह को ही तीर्थ माना था। सरह ने कहा है कि इसी देह में सरस्वती, प्रयाग, गंगासागर, वाराणसी सभी का निवास है। इसी में चन्द्र और सूर्य हैं। देह के समान कोई तीर्थ नहीं।

एथ से सरसइ सोवणाह, एथु से गंगासाअरु ।
वाराणसि पआग एथु, से चान्द्रदिवाअरु ।।
खेत्त पिट्ठ उअपिट्ठ, एथु मइ भमिअ समिट्ठउ ।
देहासरिस तित्थ, मइ सुण उण दिट्ठउ ।। दोहाकोश 96-97

जोइन्दु कहते हैं—

जेहउ णिम्मलु णाममउ, सिद्धिहिँ णिवसइ देउ ।
तेहउ जिवसइ बंभु परु, देहहँ मं करि भेउ ।। 1.26

जिस प्रकार निर्मल ज्ञानमय सिद्धगण मुक्ति में निवास करते हैं उसी प्रकार शुद्धबुद्ध स्वभाववाला परब्रह्म इस शरीर में ही निवास करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'मोक्षपाहुड' में लिखा है—

णमि एहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाएएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणहं ।।

जो नमस्कारयोग्य पुरुषों से भी नमस्कारयोग्य हैं, स्तुति करने योग्य पुरुषों से स्तुति किया गया है और ध्यान करने योग्यों से भी ध्यान करने योग्य है ऐसा परमात्मा इस देह में ही निवास करता है।

जोइंदु की मान्यता है कि तीर्थादिकों में भ्रमण करने से, शास्त्र-पुराण का सेवन मात्र करने से अथवा मंदिर-मूर्ति की आराधना करने से आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। जिसका मन निर्मल है उसे ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय, अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं, अप्पा विमलु मुएवि ।। 1.95

हे जीव! तू दूसरे तीर्थ को मत जा, किसी दूसरे गुरु की सेवा मत कर, विमल आत्मा को छोड़कर किसी अन्य देवता का ध्यान मत लगा क्योंकि आत्मा ही तीर्थ है, आत्मा ही गुरु है और आत्मा ही देव है।

अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णियमें वसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइं तवचरणु, मुक्खु वि करहिं कि तासु ।। 1.98

जिसके हृदय में निर्मल आत्मा का निवास नहीं होता उसे शास्त्र, पुराण, तपस्या आदि क्या मोक्ष दे सकते हैं ?

सन्तों ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं । पलटू साहिब कहते हैं—

पलटू दोउ कर जोरि कै, गुरु संतन को सेव ।
जल पषान को छांडि कै पूजौ आतम देव ।।

जोइंदु ने माना है कि परमात्मा का निवास मंदिर की पाषाण-प्रतिमा में नहीं होता वरन् जिस प्रकार हंस मानसरोवर में निवास करता है उसी प्रकार आत्मदेव शुद्ध मन में ही निवास करते हैं—

देउ ण देउले णवि सिलए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति ।। 1.123

अर्थात्, आत्मदेव देवालय में, पाषाण में, लेप में और चित्र में नहीं रहता । वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय शिव समचित्त में निवास करता है ।

जोइंदु ने 'मोक्षाधिकार' में जहां एक ओर मोक्षसम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों का गम्भीरतापूर्ण विवेचन किया है वहीं दूसरी ओर सामान्य जन के लिए व सर्वसुलभ मार्ग का भी प्रतिपादन किया है । मोक्ष के लिए कर्मों का क्षय आवश्यक है । देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति से पुण्य हो सकता है किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता । कर्मों का क्षय तो चित्तशुद्धि से ही होता है । चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं है ।

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि ।। 2.70

हे जीव ! जहां तेरी इच्छा हो वहां जा और जो अच्छा लगे वही कर लेकिन जब तक मन की शुद्धि नहीं है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

इसी भाव को सिद्ध सरहपाद ने 'दोहाकोश' में कहा है—

बज्झइ कम्मेण जणो कम्मविमुक्केण होइ मणमुक्को ।
मण मोक्खेण अणुअरं पाविज्जइ परम णिव्वाणं ।।124।।
हिन्दी छाया–बंधे कर्म से जना, कर्म विमुक्त होइ मन मुक्त ।
मन-मोक्ष के पीछे ही पावै परम निर्वाण ।।

जोइंदु ने आत्मज्ञान के समक्ष शास्त्रज्ञान को निम्नकोटि का माना है। आत्मज्ञान से बाहर शास्त्रज्ञान किसी काम का नहीं है। जो शास्त्रों को पढ़ता है किन्तु परमार्थ को नहीं जानता वह मोक्ष नहीं पा सकता। इस लोक में ज्ञान के निमित्त शास्त्र पढ़े जाते हैं, किन्तु शास्त्र को पढ़ने से भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ क्या वह मूर्ख नहीं है? तीर्थ-भ्रमण से, केश-लुंचन से और शिष्य-शिष्या बनाने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता बल्कि मोक्ष की उपलब्धि होती है अपरिग्रह से, ज्ञान से।

बोहणिमित्तें सत्थु किल, लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तंणवि बोहुण जासु वरु, सो किं मूढु ण तत्थु॥
तित्थइं तित्थु भमंताहं, मूढहं मोक्खुण होइ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ॥ 284–85

जोइंदु समत्वभाव के उपासक हैं। इन्होंने संसार के सभी प्राणियों में समभाव देखा है। संसार के सभी प्राणी समान हैं। जीवों में मोक्ष कर्म से होता है किन्तु कर्म जीव नहीं होता। जाति से जीव श्रेष्ठ है अतः सभी जीवों में समभाव रखनेवाला ही मोक्ष प्राप्त करता है।

राय-दोस वे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति।
ते सम-भावि परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति॥ 2.100

जो रागद्वेष को दूर कर सब जीवों को समान जानते हैं वे समभाव में विराजमान साधु शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। गीता में भी इस सत्य की विवृति हुई है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥ 18.20

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सभी प्राणियों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान जानो।

मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़ दोहा' में लवण-पानी की समरसता से इस समत्वभाव को समझाया है।

जिस लोण विलिज्जइ पाणियहँ तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूजइ जीवडा काइँ समाहि करिज्ज॥

'दोहाकोश' में ठीक ये ही पंक्तियां हैं—

जिम लोण विलिज्जइ पाणि एहि तिम धरिणी लइ चित्त।
समरस रसि जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त॥

जोइंदु ने अद्वैत सिद्धि की भावना की है। आत्मा और परमात्मा में अभेदबुद्धि उत्पन्न हो जाना ही अद्वैत-सिद्धि है। प्रसिद्ध सन्त सुन्दरदासजी का कथन है—

आपु ब्रह्म कछु भेद न जाने, अहं ब्रह्म ऐसे पहिचाने,
सोहं सोहं सोहं सोहं, सोहं सोहं सोहं असो
स्वासौ स्वासं सोहं जापं, सोहं सोहं आपं आपम् ।।

जोइंदु कहते हैं—

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउं देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिभंतु ।। 2.175

जो ज्ञानमय परमात्मा है वही अनन्तदेवस्वरूप मैं भी हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है, तू इस प्रकार की भावना कर।

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि जोइंदु की विचारधारा सम्प्रदाय-निरपेक्ष अधिक है। वास्तविकता तो यह है कि सिद्धों, नाथों, जैनों एवं आगे चलकर सन्तों की विचारधारा में एक अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है। ये सभी मत-सम्प्रदाय समानान्तर विकसित हो रहे थे और यह कहना कठिन है कि किसका प्रभाव किस पर अधिक है। दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलियाँ भले ही भिन्न हों किन्तु उनके भीतर की चेतना एक ही है और वे सभी एक ही अविच्छिन्न परम्परा की कड़ी मात्र हैं। रूढ़ियों पर व्यंग्य करने या खंडन करने की दृष्टि से जो अक्खड़ता, जो साहस, जो व्यंग्य और जो तीव्रता सिद्धों में मिलती है वही रहस्यवादी जैन कवियों में भी उपलब्ध होती है। वस्तुतः इनका तत्त्वज्ञान शास्त्रीय की अपेक्षा अनुभवगम्य अधिक है। इन्होंने आत्मा-परमात्मा की स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव कर लोक-व्यवहार की दृष्टि से उनका अंकन किया है। जोइंदु, मुनिरामसिंह आदि सभी जैन कवियों ने दर्शन की जटिलताओं से अपने को मुक्त कर एक ऐसे लोक-सामान्य मार्ग के प्रवर्तन का प्रयत्न किया है जिसका मूल प्रेरक तत्त्व स्वानुभूत अध्यात्म-चिंतन है। यह सत्य है कि इन्होंने साधना, मोक्ष, समाधि, जीव, पुद्गल आदि पर जैन-दर्शन की दृष्टि से विचार किया है किन्तु इनके मन्तव्यों में कहीं भी दुरूहता नहीं है। इनका मुख्य लक्ष्य सामान्य जनता को धर्म-साधना में प्रवृत्त कराने का था और इसके लिए जिस शैली का इन्होंने उपयोग किया वह शैली सामान्य जीवन से गृहीत थी।

काव्य तत्त्व—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जैन तत्त्वज्ञों के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा है—"अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्वनिरूपण-सम्बन्धी हैं, जो साहित्य कोटि में नहीं आतीं।" नाथों, सिद्धों, सन्तों आदि के सम्बन्ध में भी शुक्लजी का यही दृष्टिकोण रहा है। कहना व्यर्थ है कि शुक्लजी का यह दृष्टिकोण आज निर्विवाद नहीं रह गया है।

वस्तुतः जिस कसौटी पर इन रचनाओं को परखने की चेष्टा की जाती है वह कसौटी 'रस' की है। प्रश्न है कि क्या रस को ही कविता की एकमात्र कसौटी के रूप में स्वीकार

किया जा सकता है ? आज के अधिकांश नये समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि कविता के प्रतिमानों का एकमात्र सम्बन्ध रस से नहीं हो सकता । साहित्य-शास्त्र के अनुसार रस के मूल में भाव हैं और 'अमरकोश' के अनुसार "विकारो मनसोभावः ।" 'रसतरंगिणी' में भानुदत्त ने इसे तनिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—"रसानुकूलो विकारो भावः ।" भाव या मनोविकार रस-सिद्धान्त में कितना भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हों सन्तों एवं दार्शनिकों ने इन्हें प्रेम ही माना है । उनके मन में रति, क्रोध, मान, मद, मोह आदि आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक ही हैं और इनसे छुटकारा पाना ही जीव के लिए श्रेयस्कर है । अतः रस को काव्य की आत्मा और शृंगार को रसराज माननेवाली दृष्टि सन्तों के काव्य का निकष नहीं हो सकती । वस्तुतः कविता की यह कसौटी ही गलत है ।

जोइन्दु जैसे साधक सन्तों के काव्य की कसौटी न तो रस है, न प्रीति, न कीर्ति, न अलंकार और न रीति-ध्वनि-औचित्य-चमत्कार-कला-नैपुण्य आदि । वासनाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक मूल्यों का चिन्तन, सम्यक्त्व की उपलब्धि, आत्मस्वरूप की प्राप्ति, परमसमाधि का व्याख्यान, शुद्धोपयोग की मुख्यता का प्रतिपादन, परद्रव्य, मोह, लोभ, कषाय आदि का त्याग, अभेद रत्नत्रय का व्याख्यान आदि ही इनके काव्य के मूल प्रेरक तत्त्व हैं । इनका काव्य मनोविकारों के तनाव से मनुष्य को मुक्त कर सनातन सत्य की उपलब्धि कराता है । इसीलिए इन सन्तों का काव्य सुरसरि के समान सबका हित करनेवाला है । अभिनव गुप्त ने जिसे शान्तरस का काव्य कहा है, लांजाइनस ने जिसे उदात्त काव्य कह कर सम्मानित किया है, कान्ट ने जिसे भाव-निवृत्ति, हीगेल ने आध्यात्मिकता और ब्रेडले ने आत्मप्रसार की अनुभूति का काव्य कहा है, जोइन्दु का काव्य भी उसी कोटि का है । तत्त्वबोध का आनन्द ही इस काव्य की आत्मा है और यही इसकी विशिष्टता भी है ।

जोइन्दु ने अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए यद्यपि कहीं-कहीं अलंकारों का भी प्रयोग किया है किन्तु ये अलंकार-प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप में आ गए हैं, ये आयासजन्य नहीं हैं । इन्होंने स्वानुभूत सत्य को सहज, सुबोध, सीधी-सादी किन्तु अर्थगर्भित भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया है । इनकी शैली काव्य-रूढ़ियों में बंधकर चलनेवाली नहीं है वरन् उद्दाम सरिता के समान स्वच्छन्द है । यत्र-तत्र अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है । जैसे—

उपमा—(क) मन में देवता उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार मानसरोवर में हंस । 1.122

(ख) यदि कोई आधी घड़ी भी परमात्मा से प्रेम करता है तो जिस प्रकार अग्नि-कणिका काष्ठ के पहाड़ को दग्ध कर देती है उसी प्रकार यह पापों को भस्म कर डालता है । 1.114

श्लेष से पुष्ट व्याजस्तुति अलंकार—जो साधु समभाव करता है उसमें दो दोष होते हैं । एक तो वह अपने बन्धु (बन्ध) को नष्ट करता है और दूसरे जगत् के प्राणियों को बावला (नग्न-दिगम्बर) बना देता है । 2.44

दृष्टान्त—दुष्टों का साथ छोड़ो। लोहा आग से मिलने पर घन से पीटा जाता है। 2.109

तृतीय विभावना—वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जन हैं जो यौवन के सरोवर में पड़कर भी लीला से उसे तैर जाते हैं। 12.117

रूपक—हे जीव ! इन्द्रिय रूपी ऊंट को स्वेच्छा से मत चरने दो क्योंकि विषय-वन में चरकर यह तुम्हें संसार में ही पटक देगा। 2.136

छन्द—परमात्मप्रकाश का मुख्य छन्द दोहा है । यद्यपि इसमें पांच प्राकृत गाथाएँ, प्राकृत में एक मालिनीवृत्त और अपभ्रंश में एक स्रग्धरा छंद है फिर भी प्रधानता दोहों की ही है। दोहा अपभ्रंश का सर्वाधिक लोकप्रिय छंद रहा है। बौद्ध और जैन, दोनों सम्प्रदायों के कवियों ने दोहा छन्द का प्रयोग समान रूप में किया हे। सिद्ध सरहप्पा ने दोहा छन्द के सम्बन्ध में लिखा है—

दोहा संगम मइ कहिअउ, जेहु बिबुज्झिअ तथ्य ॥ दोहाकोश, 109

प्राकृत में विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में दोहा छन्द प्रयुक्त हुआ है। यदि हम इसे प्रक्षिप्त भी मानलें तो भी इतना निर्विवाद है कि 8वीं शती में इसका प्रचलन प्रारम्भ हो गया था और दसवीं-ग्यारहवीं शती तक यह बहुत प्रचलित छन्द हो गया था क्योंकि पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं में इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है। ऐसा अनुमान किया गया है कि इसकी परम्परा पश्चिमी प्रदेशों से प्रारम्भ हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'छन्दोऽनुशासन' में एक संस्कृत दोहे का उद्धरण दिया है। इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत में भी कभी इसका व्यवहार होता होगा। हेमचन्द्र ने 13–11 के क्रम से कुसुमाकुलमधुकर (6/20/36) नामक छन्द का उल्लेख किया है जिसे कविदर्पण (2/15), प्राकृत पैंगलम (1/78) स्वयंभू छन्द (6/70) आदि में दोहक कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्राकृत पैंगलम' की रचना के समय चौदहवीं शती में दोहे का 13, 11 मात्रा का क्रम निर्देशित हुआ और लघु-गुरु के आधार पर इसके अनेक भेद बताये गये। कीर्तिलता, सन्देशरासक तथा अपभ्रंश की स्फुट रचनाओं में दोहा का प्रयोग व्यापकरूप में हुआ है। 'परमात्मप्रकाश' में दोहे का 13, 11 मात्रा का क्रमवाला रूप ही उपलब्ध होता है, यद्यपि कहीं-कहीं 14, 11 (छन्द 34) का क्रम भी प्राप्त हो जाता है। ऐसा मुद्रण की भूल से भी सम्भव है।

जोइन्दु की भाषा लोकभाषा का रूप प्रस्तुत करती है। यद्यपि इसकी भाषा पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश है तथापि उसमें देशी शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। उस समय यह परम्परा बन चुकी थी कि पदों में स्थानीय बोली तथा दोहों में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया जाय क्योंकि यह भाषा दोहों में मंज चुकी थी। लोकभाषा के निकट होने के कारण

जोइन्दु की भाषा में जिस माधुर्य का समावेश हो गया है वह अन्य रचनाकारों की भाषा में उपलब्ध नहीं होता। यह सत्य है कि इस ग्रन्थ में जोइन्दु का कवि की अपेक्षा तत्त्वचिंतक रूप ही अधिक उभरा है और रस मीमांसकों को इससे तुष्टि नहीं हो सकती फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह रचना नितान्त शुष्क, नीरस और काव्य-तत्त्व से हीन है। वस्तुतः जिस तत्त्व, तथ्य, ज्ञान और अनुभव को इन्होंने अपनी परिष्कृत और काव्यमयी भाषा में प्रकट किया है उससे इनकी काव्यक्षमता और भाषाक्षमता भली-भांति स्पष्ट हो जाती है। अपने युग के महान् विचारक, तत्त्वद्रष्टा, कवि और क्रांतिकारी पुरुष के रूप में जोइंदु भारतीय-साहित्य में सदा स्मरणीय रहेंगे।

❖

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ।।

अर्थ—जिस प्रकार मैले दर्पण में बिंब स्पष्ट दिखाई नहीं देता उसी प्रकार राग से रंगे हुए हृदय में रागरहित आत्मदेव दिखाई नहीं देता, ऐसा निस्सन्देह जान।

परमात्मप्रकाश 1.120

मूढमान्यता

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ।।
हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउंसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ।।
तरुणउ बूढउ रुयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ।।

अर्थ—मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं ही अनेक वर्णवाला (रंगवाला) हूँ। मैं तन्वंगी (पतले शरीरवाला) हूँ, मैं स्थूल हूँ, इस प्रकार माननेवाले को मूढ़ मान ।

मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, शेष (शूद्र आदि) मैं हूँ। मैं पुरुष-नपुंसक-स्त्री हूँ, मूढ (इस प्रकार) अपने को विशेष मानता है ।

मैं तरुण हूँ, बूढ़ा हूँ, रूपवान हूँ, शूरवीर हूँ, पण्डित हूँ, श्रेष्ठ हूँ। मैं जैन साधु हूँ, वंदक हूँ, श्वेतपटी हूँ, मूढ यह सब मानता है ।

परमात्मप्रकाश 1.80–82

योगसार का योग

—पं. भंवरलाल पोल्याका

☐

जिस संसार-सागर में हमारा आवास है वह प्रतिक्षण नित-नवीन घटित होनेवाली घटनाओं से तरंगित होता रहता है । ये तरंगे जब हमारी हृत्तन्त्री को झंकृत करती हैं तो हमारा मानस उनकी अनुभूति करता है । यह अनुभूति ही भावों की उत्पत्ति का कारण बनती हैं। ये भाव अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी । ये ही भाव जब क्रमबद्ध होकर लेखिनी द्वारा आकार ग्रहण करते हैं, वर्ण, अक्षर शब्द तथा वाक्य रूप में चित्रित होते हैं तो साहित्य का सर्जन होता है । साहित्य भी भावों के अनुसार अच्छा और बुरा हो सकता है, पाठक को सन्मार्ग अथवा असन्मार्ग की ओर ले जानेवाला हो सकता है, किन्तु भारतीय मनीषा अहितकारी साहित्य को साहित्य की परिभाषा में परिगणित नहीं करती । उनकी मान्यता में साहित्य का हितकारी होना आवश्यक है ।

मानव का हित क्या है ? मानव समेत संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है । दुःखी होना कोई नहीं चाहता । यह उसकी स्वाभाविक इच्छा है क्योंकि सुख आत्मा का स्वभाव है । उसके दुःखी होने का एकमात्र कारण है सांसारिक भौतिक इच्छाओं/कामनाओं की सम्पूर्ति को ही सुख मान लेना । यह हमारी विपरीत मान्यता है क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को । इस प्रकार यह परम्परा चालू रहती है । इच्छापूर्ति से होनेवाले सुख के साथ दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध है अतः यदि हमें सच्चा सुख प्राप्त करना है तो सांसारिक भौतिक कामनाओं का त्याग करना होगा । परोन्मुखी से स्वोन्मुखी होना होगा ।

तीर्थंकरों और उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यों, ग्रन्थकारों ने इसीलिए परपदार्थों से संबंध हटा आत्मरत होने की शिक्षा दी थी। केवल यह ही एक मार्ग है जो जीव को बहिरात्मा से अन्तरात्मा बना कर अन्त में परमात्मपद तक पहुंचा देता है जहाँ अनन्त सुख का अथाह सागर लहराता है, जहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं है तथा जहाँ का सुख स्थायी है, शाश्वत है, कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। यही अध्यात्म है। भगवान् महावीर के पश्चात् अध्यात्म की ओर प्रेरित करनेवाले ज्ञात रचनाकारों में सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य का नाम आता है जिन्होंने प्राकृत भाषा में अध्यात्मगंगा को प्रवाहित किया।

अपभ्रंश भाषा में यह श्रेय कवि योगीन्दु (अपभ्रंश नाम जोगचन्द) को प्राप्त है। इनकी वर्तमान में दो रचनाएं, परमप्पपयासु (परमात्मप्रकाश) एवं जोगसार (योगसार) हैं। यद्यपि इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी बताई जाती हैं किन्तु उन पर शोधी-खोजी विद्वानों में मतभेद है। परमप्पपयासु तथा जोगसार नामक रचनाओं को निर्विवादरूप से श्रीमद्योगीन्दु द्वारा रचित स्वीकार कर लिया गया है। इनमें से 'जोगसार' पर इन पंक्तियों में कुछ विचार किया जा रहा है।

जोगसार का यह नाम कवि द्वारा दो आधारों पर रखा गया प्रतीत होता है। एक तो कवि का स्वयं का नाम जोगिचन्द्र, जोगचन्द अथवा योगचन्द था (अन्तिम दोहा और उसके पाठान्तर), दूसरे इसमें वर्ण्यविषय योग है।

ग्रन्थ की रचना संसार से भयभीत मुमुक्षुओं के सम्बोधनार्थ की गई है (दोहा 3)। अन्तिम दोहे में ग्रन्थकार ने कहा है कि वह संसार के दुःखों से भयभीत है अतः उसने आत्म-सम्बोधनार्थ इन दोहों की रचना की है। दूसरे शब्दों में इसकी रचना स्वान्तः-सुखाय हुई है, परमप्पपयासु की भांति प्रभाकर भट्ट अथवा अन्य किसी व्यक्तिविशेष को संबोधनार्थ नहीं।

कवि योगीन्दु का 'योग' वह योग नहीं है जो सूत्रकार उमास्वाति ने 'कायवाङ्मनः कर्मयोग' अर्थात् मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा है। यह योग कर्मों के आस्रव का कारण है। 'पातंजल योगदर्शन' के समाधिपाद–1 में "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः", "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" कहते हुए सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोध को योग संज्ञा से अभिहित किया गया है और उसका फल योगी का स्वरूप में स्थित होना बताया है। जैन परम्परा में इसी को 'एकाग्रचिन्तानिरोधः ध्यानम्' कहकर ध्यान नाम से पुकारा गया है।

योगीन्दु का योग क्या है यह समझने के लिए हमें योगसार के कुछ दोहों का जो नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं, अध्ययन करना होगा—

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ, तो संसार भमेहि ।। 12 ।।

अर्थ—यदि तू आत्मा को आत्मा समझेगा तो निर्वाण को प्राप्त कर लेगा और यदि पर को आत्मा समझेगा तो संसार में भ्रमता रहेगा ।

इच्छारहियउ तव करहि, अप्पा अप्पु मुणेहि ।
तो लहु पावहि परमगई, फुडु संसारु ण एहि ॥ 13 ॥

अर्थ-- हे जीव ! यदि तू इच्छारहित होकर तप करेगा और स्वयं (आत्मा) को पहिचान लेगा तो निश्चय से परमगति (मुक्ति) को प्राप्त कर लेगा और पुनः संसार में नहीं आवेगा ।

अह पुणु अप्पा णवि मुणहि, पुण्णु जि करहि असेस ।
तो वि ण पावहि सिद्धि-सुहु, पुणु संसारु भमेस ॥ 15 ॥

अर्थ—हे जीव ! यदि तू आत्मा को नहीं पहचानेगा और पुण्य ही पुण्य करता रहेगा तो भी तुझे सिद्धिसुख (मुक्ति का आनन्द) नहीं प्राप्त होगा और बार-बार संसार में भ्रमण करेगा ।

जाम ण भावहि जीव तुहुँ णिम्मल अप्प सहाउ ।
ताम ण लब्भइ सिव-गमणु जहिँ भावइ तहि जाउ ॥ 27 ॥

अर्थ—हे जीव ! जब तक तू निर्मल आत्मस्वभाव की भावना नहीं करेगा तब तक तुझे मोक्ष नहीं मिल सकता । जहाँ तुझे अच्छा लगे वहाँ जा ।

वय-तव-संजम-मूल-गुण मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु ।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ 29 ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि के व्रत, तप, संयम और मूलगुण तब तक मोक्ष के कारण नहीं हो सकते जब तक कि वह एक परमशुद्ध और पवित्र भाव को नहीं जान लेता ।

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावएँ णरय-णिवासु ।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिववासु ॥ 32 ॥

अर्थ—यह जीव पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक में जाता है और जो इन दोनों को छोड़कर आत्मज्ञान की प्राप्ति कर लेता है उसे मोक्ष में आवास प्राप्त होता है ।

अप्पा अप्पइँ जो मुणइ जो परभाउ चएइ ।
सो पावइ सिवपुरि-गमणु जिणवरु एम भणेइ ॥34॥

अर्थ—जो परभाव को छोड़कर आत्मा को आत्मा के द्वारा जानता है उसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ।। 44 ।।

अर्थ—हे मूर्ख ! देव किसी देवालय में नहीं हैं, किसी पत्थर, लेप अथवा चित्र में भी नहीं हैं, जिनदेव तो देह-देवालय में हैं, ऐसा समचित्त होकर समझ ।

जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।
केवल-णाण-सरूव लइ ते संसारु मुचंति ।। 63 ।।

अर्थ—जो मुनि परभाव को छोड़कर अपनी आत्मा से अपनी आत्मा को जानता है वह केवलज्ञान प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाता है ।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि, अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु सील तउ, अप्पा पच्चक्खाणि ।। 81 ।।

अर्थ—हे जीव ! आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझ, आत्मा को ही चारित्र जान और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्मा को ही मान ।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु, सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवझायउ सो जि मुणि, णिच्छइँ अप्पा जाणि ।। 104 ।।

अर्थ—निश्चय से यह आत्मा ही अरहन्त है, सिद्ध है और आचार्य है, उपाध्याय और मुनि भी यह आत्मा ही है ।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिँ जे सिज्झहिँ जिण-उत्तु ।
अप्पादंसणिँ ते वि फुडु, एहउ जाणि णिभंतु ।। 107 ।।

अर्थ— भूतकाल में जो सिद्ध हुए हैं, भविष्य में जो सिद्ध होंगे तथा वर्तमान में जो सिद्ध हैं वे निश्चय ही आत्मदर्शन से सिद्ध हुए हैं, यह भ्रान्तिरहित होकर समझ ले ।

योगप्रदीप में "ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयात्मकः योगी मुक्तिपदप्राप्तेरुपायः परिकीर्तितः" कहकर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक योग को मुक्ति प्राप्ति का उपाय बताया गया है। योगसार का योग भी मुक्ति प्राप्ति का उपाय ही ही है । वह स्व को स्व के द्वारा स्व से जोड़ने की प्रक्रिया का वर्णन करता है । उसमें व्यवहार नय से सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को पृथक्-पृथक् मुक्ति का मार्ग बताया गया है और निश्चय नय से इन तीनों की एकात्मकता ही मुक्ति है, ऐसा कहा है । यहाँ स्व ही साधन और स्व ही साध्य है । योग ही साधन और उसकी पूर्णता ही साध्य है, परम-समाधि है, मोक्ष है और यह ही प्रत्येक जीव का प्राप्तव्य है ।

कविमनीषी योगीन्दु का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन

—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश की काव्यधारा अनेक शताब्दियों तक प्रवहमान रही। इसमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य और अनेक काव्यरूपों में निर्बाध काव्य रचा जाता रहा है। आरम्भ में जिनवाणी पर आधृत अपभ्रंश काव्य रचा गया किन्तु इसके उत्तरार्द्ध में बौद्ध-धर्मजन्य सिद्ध और नाथ सम्प्रदायी स्वतन्त्र पद साहित्य, गीत तथा दोहे प्रभूत परिमाण में रचे गये इसके अतिरिक्त महाकवि विद्यापति की कीर्तिलता और अब्दुल रहमान के सन्देश-रासक जैसे प्रसिद्ध काव्यग्रन्थों में अपभ्रंश साहित्य के अभिदर्शन किए जा सकते हैं।

महाकवि स्वयंभू, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी तथा कनकामर की परम्परा में कविमनीषी योगीन्दु का नाम साहित्य-जगत् में समादृत है। आपने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में अनेक उत्तम काव्यकृतियों का सृजन किया है तथापि अपभ्रंश भाषा में रचित परमात्मप्रकाश और योगसार प्रसिद्ध काव्यकृतियाँ हैं। यहाँ इन्हीं दोनों काव्यों पर आधृत महाकवि योगीन्दु का काव्यशास्त्रीयपरक मूल्य अंकन करना हमारा मूल अभिप्रेत रहा है।

काव्यशास्त्र एक पारिभाषिक शब्दसमूह है जिसका तात्पर्य है—काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों तथा उसके विभिन्न भेदोपभेदों के रचना एवं मूल्यांकन सम्बन्धी नियमों का उपस्थापन, निरूपण, विवेचन तथा विश्लेषण करनेवाला शास्त्र। भारतीय आचार्यों ने शास्त्र को

वाङ्मय के भेदों में से एक माना है। शास्त्र के अन्तर्गत वेद, वेदांग, आन्वीक्षिणी, दन्तुनीति, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विद्याओं के साथ ही साहित्य-विद्या भी समाविष्ट है। आचार्य राजशेखर ने साहित्य विद्या को सभी विद्याओं का सार कहा है।

किसी भी काव्य का कथ्य-कथानक, रस-निरूपण, प्रकृति-चित्रण तथा अलंकार, छन्द, भाषा विषयक शीर्षक काव्यशास्त्रीय निकष के प्रमुख और आवश्यक अंग अंगीकार किये गये हैं। यहाँ विवेच्य कविवर के काव्य का मूल्यांकन इनही तत्त्वों के आधार पर करना समीचीन होगा।

जैन कवियों का दृष्टिकोण पुरुष के पुरुषार्थ चतुष्ट्य की चरम सीमा को स्पर्श करता है। किसी भी काव्यरूप में रचा गया काव्य का सार-सारांश मोक्ष की ओर उन्मुख होता है।

परमात्मप्रकाश का कथ्य मोक्ष पुरुषार्थ से अनुप्राणित एक उत्कृष्ट कोटि का है जिसका फलागम बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर उत्प्रेरित होता है और यहाँ से प्रोन्नत होता हुआ वह परमात्मा के रूप को धारण करता है। भव-भ्रमण में तल्लीन बहिरात्मा जब निवृत्तिमार्ग की ओर उन्मुख होता है तब वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा का रूप धारण करता है। यहाँ आकर उसका पुरुषार्थ तप और संयम से अनुप्राणित होकर आत्मोन्मुखी होता जाता है। इसकी अन्तिम परिणति तब मुखरित होती है जब प्राणी की सारी प्रवृत्तियाँ विरागमुखी हो जाती हैं। इतना ही नहीं कथ्य नियताप्ति से पुरस्सर होता हुआ फलागम की ओर उन्मुख होता है और ऐसी स्थिति में राग-विराग की कहानी समाप्त होकर पूरी तरह वीत-रागमय हो जाती है। यह आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था परमात्म अवस्था है।

व्यक्ति-उदय से वर्गोदय का प्रयास सर्वथा स्तुत्य है किन्तु इस प्रयास की उत्कृष्ट अवस्था वहाँ है जहाँ वह व्यक्ति और वर्ग से भी ऊपर उठकर सर्वोदय के लिए बन जाता है। इस कृति का शीर्षक भी इसके कथ्य की आत्मा को प्रभावित करता है—परमात्मप्रकाश अर्थात् आत्मा का संवाहक आलोक।

कवि की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है योगसार और इसका कथ्य भी आध्यात्मिक है। यहाँ भी आत्मा के विविध रूपों का विवेचन किया गया है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा का उल्लेख करते हुए विवेच्य कवि परमात्मा के स्वरूप का चिन्तवन करने का आग्रह करता है। काव्य में पाप-पुण्य का यथेच्छ उल्लेख करते हुए सकल-कर्म-विरत होने का आग्रह किया गया है। साधक जब पाप और पुण्य का पूर्णतः परित्याग कर आत्मध्यान में सक्रिय हो जाता है तभी ज्ञानी समस्त कर्मबंधनों से मुक्त हो जाता है और भव-भ्रमण से छुट-कारा अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार विवेच्य काव्य का कथ्य आत्मोद्धारक है, कल्याणकारी है। यद्यपि यहाँ कथाजन्य इतिवृत्तात्मक रूप का सर्वथा अभाव है किन्तु जो है उसका प्रभाव अतिशय है। जीवन की सर्वांगीणता का सार इसमें निहित है अतः यह प्रेरक और पुरस्कारक है, प्रभावक और आत्मोद्धारक है।

इसके उपरान्त रस का क्रम आता है। काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य में रस का स्थान बड़े महत्त्व का है। शरीर में जो स्थान आत्मा का है वही काव्य में रस का है। काव्य की आत्मा रस कहलाती है। आस्वाद और द्रवत्व की दृष्टि से रस का रूप दो प्रकार का कहा गया है। जहाँ एक ओर 'रस्यते आसवाद्यते इति रसः' से रस के रूप को स्थिर किया जाता है वहाँ दूसरी ओर 'रसते इति रसः' के द्वारा शास्त्र में रस शब्द का प्रयोग काव्यास्वाद अथवा काव्यानंद के लिए होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा है। आचार्य विश्वनाथ भी सत्त्वोद्रेक कह कर रस का हेतु निर्धारित करते हैं। यह चिन्मय है, स्वप्रकाश आनन्द है, अखण्ड है। विचार करें तो सहज ही प्रतीत हो जाता है कि नवरसों में निर्वेदजन्य शान्तरस ही ऐसा उत्कृष्ट रस है जिसके उद्रेक से अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति हो उठती है। इस दृष्टि से विवेच्य काव्यकृतियों में शान्तरसधार प्रवाहित है। आकुल आदमी इसमें अवगाहन करते ही निष्ताप और निष्कलुष हो उठता है। यह जागतिक प्राणी की वह अवस्था है जब उसका सम्बन्ध राग-द्वेष से मुक्त सहज अवस्था की अनुभूति कर उठता है। राग आकुलता का कारण है और द्वेष है उत्पीड़न का। इस अवस्था में प्राणी आत्मिक अनुभूति करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। कवि ने इन काव्यों में रसोद्रेक की दृष्टि से ऐन्द्रिक रसों की अपेक्षा आध्यात्मिक रस-शान्तरसधार को गृहीत किया है। जैन कवियों की रस विषयक अवधारणा निश्चय ही रसलोक में एक अभिनव दृष्टिकोण का प्रवर्तन करती है।

काव्य में प्रकृति-प्रयोग एक अनिवार्य अनुष्ठान है। आलम्बन, उद्दीपन और आलंकारिक दृष्टि से काव्य में प्रकृति-प्रयोग तीन प्रकार से कहा जा सकता है। कवि को प्रकृति-प्रयोग करना इष्ट नहीं है। काव्याभिव्यक्ति में यदि उसे अपनी बात सुगम और प्रभावक बनाने के लिए प्रकृति-प्रयोग आवश्यक हुआ तो उसने आलंकारिक प्रयोग में प्रकृति-तत्त्वों को सहर्ष गृहीत किया है।

इस दृष्टि से कवि के काव्य का भावपक्ष प्रवृत्तिपरक नहीं है। वह मूलतः निवृत्तिपरक है और आध्यात्मिक उन्नयन जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए काव्य की शरण लेता है। विवेच्य काव्य का यही कथ्य है और है यही तथ्य जिसमें कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

जिस प्रकार मंत्र की महिमा तंत्र पर निर्भर करती है उसी प्रकार काव्य के भावपक्ष की सफलता उसके कला-पक्ष पर निर्भर करती है। अभिव्यक्ति एक शक्ति है और कवि-मनीषी योगीन्दु शक्ति-सामन्त हैं। कला-पक्ष का प्रमुख उपकरण है भाषा। किसी भी काव्य की सफलता उसकी प्रयुक्त भाषा पर निर्भर करती है। विवेच्य कवि ने इन काव्यों में लोकाश्रित अपभ्रंश भाषा का उपयोगी चयन किया है तथा सफलतापूर्वक परीक्षण भी। आध्यात्मिक जटिल किन्तु नीरस विषय को सर्वसामान्य के लिए सरस तथा उपयोगी बनाने का पूरा श्रेय सटीक भाषा के व्यवहार पर निर्भर करता है। विवेच्य कवि ने हृदय को स्पर्श

करनेवाली भाषा को अपनाया है। जैन कवियों की भाषा की अतिशय विशेषता यह है कि उसमें पारिभाषिक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। विवेच्य कवि ने ऐसे प्रयोगों में सहृदयतापूर्वक अर्थात्मा को श्रोता के हार्दिक मंच पर प्रतिष्ठित कर दिया है। प्रयुक्त भाषा में अनेक शब्द हिन्दी शब्दों के पूर्व रूप से प्रतीत होते हैं। यथा—

कहिया–कथित (योगसार–10), चाहहु–इच्छित (प. प्र.–26), छह–षट् (यो. सा.–35), पोत्था–पुस्तक (यो. सा.–47), घीव–घी–घृत (यो.सा.–57)।

विवेच्य काव्य की भाषा में कहीं-कहीं लोकोक्ति और मुहावरों का औचित्यपूर्ण प्रयोग मुखर हो उठा है। यही कारण है भाषा में लाक्षणिकता और प्रभावोत्पादकता आ गई है। यथा—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिँ केम समंति वढ़ बे खंडा पडियारि।। प. प्र. 1.121

अर्थात् जिसके हृदय में हरिणाक्षी सुन्दरी वास करती है वह ब्रह्म-विचार कैसे करे? एक ही म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं? इसी प्रकार बलि जाना और शिर खल्वाट होना एक ही दोहा में एक साथ प्रयुक्त हैं। इससे अभिव्यक्ति में शक्ति का वर्द्धन होता है। यथा—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु।। प. प्र. 2.139

अर्थात् जो विद्यमान विषयों को छोड़ देता है मैं उसकी बलि जाता हूँ। जिसका शिर खल्वाट अर्थात् गंजा है वह तो दैवयोग से भी मुंडा हुआ है अर्थात् मुंडिया संन्यस्त नहीं कहा जा सकता।

पंचेन्द्रियजन्य सुखों की नश्वरता स्पष्ट करते हुए कवि अपनी कुल्हाड़ी अपने ही शिर मारे जैसी लोक-उक्तियों से अनुप्राणित प्रयोग कर अभिव्यक्ति में सजीवता उत्पन्न कर देता है यथा—

विसय-सुहइ बे दिवहड़ा पुणु दुक्खहँ परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि।। प. प्र. 2.138

विवेच्य कवि की वाग्धारा में लोकाभिव्यक्ति की पूरी छाप पड़ी है। वह कह उठता है कि बारबार पानी मथने से भी हाथ चिकने-चुपड़े नहीं होते। यथा—

णाण-विहीणहं मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ।
बहुएं सलिल-विरोलियइं करु चोप्पडउ ण होइ।। प. प्र. 2.74

भाषा में विभक्ति-सूचक प्रत्यय के स्थान पर परसर्ग के प्रयोग भी यत्र-तत्र परिलक्षित हैं। यथा—

सिद्धिहिं केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।
जो तसु भावहं मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ।। प. प्र. 2.69

यहाँ 'सिद्धिहि केरा पंथडा–सिद्धि का मार्ग' प्रयोग उल्लेखनीय है।

भाषा की भांति अभिव्यक्ति का दूसरा मुख्य अंग है—अलंकार। 'अलंकार' अलम् तथा कार इन दो शब्दों के सहयोग का परिणाम है। अलम् का अर्थ है–भूषण। जो अलंकृत अथवा भूषित करे वह वस्तुतः अलंकार है। आचार्य वामन के अनुसार अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं, इस धर्म का पक्ष काव्य का अलंकरण या सजावट है। विवेच्य कवि ने अपने अलंकार-विषयक वैदूष्य प्रदर्शित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। कवि का मूल प्रयोजन रहा है अभिव्यक्ति को सरस तथा सरल बनाना ताकि सामान्य पाठक अथवा श्रोता उसके अभिप्राय को सरुचि सहज में समझ सके। इस प्रयोजन-प्रयोग में रूपक, उपमा, दृष्टान्त, श्लेष, आदि अलंकारों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

जहाँ तक रूपक अलंकार के प्रयोग का प्रश्न है विवेच्य काव्य में निरंग रूपकों का ही प्रयोग बन पड़ा है। जिन में भवसायरु (प. प्र., 1.4), सिव-सुक्खा (प. प्र., 1.5), सिद्धि सुहु (प. प्र., 1.15), देहा-देवलि (प. प्र., 1.42), धम्म रसायणु (1.46), भव-तीरु (प. प्र., 1.51) इत्यादि प्रयोग मुखर हैं। काव्य में सांगरूपक अलंकार का प्रयोग प्रायः विरल ही है। यथा—

ए पंचिंदिय करहडा जिय मोक्कला म चारि।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ।। प. प्र. 2.136

यहाँ पंचेन्द्रियरूपी करहड़ा अर्थात् ऊंट विषयरूपी वन को चरता है।

उपमा अलंकार भी कवि ने इसी प्रयोजन से प्रयुक्त किए हैं। यथा—

दप्पणि मइलए बिंबु जिमि एहउ जाणि णिभंतु।

अर्थात् मैले दर्पण में जैसे मुख नहीं दिखता है उसी प्रकार जो योगी स्वादिष्ट आहार से हर्षित होते हैं और नीरस आहार में क्रोधादि कषाय करते हैं वे मुनि भोजन के विषय में गृद्ध पक्षी के समान हैं। यथा—

जें सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ।।

प. प्र. 2.111 (4)

रूपक और उपमा जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का एक साथ प्रयोग भी दुर्लभ ही है। यहाँ समभावी प्राणी को संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए नाव के समान कहा गया है। यथा—

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव।
तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव।। प. प्र. 2.105

कवि ने ऐन्द्रिकरस-भोगी जीव के विनाश का वर्णन उल्लेख अलंकार में स्वाभाविक रूप से किया है। कवि कहता है कि रूप में लीन पतंगा, शब्द-स्वर में लीन मृग, स्पर्शन में आसक्त हाथी, गंधलोभी भ्रमर, आस्वादलोभी मच्छ विनाश को प्राप्त होते हैं फिर भला पंचेन्द्रयभोगों के परिणाम का क्या कहना ? यथा—

रुवि पतंगा सद्दि मय गय फासहिँ णासंति।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति।। प. प्र. 2.112

कवि ने अपने प्रयोजनार्थ उदाहरण और दृष्टान्तों का बड़ा ही प्रिय प्रयोग किया है। इससे कवि का लोक-बोध सहज ही प्रमाणित हो जाता है।

परद्रव्य का सम्बन्ध महान् दुःखद है, कवि इसे निम्न दृष्टान्तों के सहयोग से शब्दायित करता है। जिन प्राणियों का सम्बन्ध दुष्टों के साथ है उनके सत्य और शील गुण भी विनश जाते हैं जैसे—जब लोहे में अग्नि की संगति होती है तब उस पर घन-प्रहार कर उसके रूप को परिवर्तित किया जाता है। यथा—

भल्लाहं वि णासंति गुण जहं संसग्ग खलेहिँ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ ते पिट्टियइ घणेंहिं।। प. प्र. 2.110

जीव को सम्बोधता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार आकाश शुद्ध है उसी प्रकार आत्मा भी शुद्ध है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश जड़ है और आत्मा चैतन्यस्वभावी है। यथा—

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेरह अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंतु।। यो. सा. 59

इसी प्रकार कवि ने स्पष्ट किया है कि सांकल लोहे की हो अथवा सोने की वह अन्ततः है सांकल ही। इसी उदाहरण से कवि कहता है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म-ग्रन्थियां हैं जो ऐसा समझता है वही ज्ञानी है। यथा—

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुहु असुह परिच्चयहिं ते वि हवंति हु णाणि।। यो. सा. 72

लोक-प्रसिद्ध दृष्टान्त को अपनाकर कवि ने अपना मन्तव्य सहजरूप में उपन्यस्त कर जनसामान्य का ध्यान आकर्षित किया है—जिस भांति कमलिनि का पत्र कभी भी जल से

लिप्त नहीं होता उसी तरह यदि प्राणी आत्मस्वभाव में अनुरक्त हो तो वह कर्मों से निर्लिप्त रह सकता है । यथा—

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलाणि-पत्त कया वि ।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प-सहावि ।। यो. सा. 92

इसके अतिरिक्त **'इन्दिय विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ'** (प. प्र. 2.137) छेकानुप्रास जैसा अलंकार अभिव्यक्ति में प्रवाह और प्रभाव की सम्यक् अन्विति उत्पन्न करता है । इसी प्रकार हरि-हर जैसे प्रयोग में एक ओर जहाँ अभिव्यक्ति में ध्वन्यात्मकता का संचार हो उठा है वहाँ दूसरी ओर प्रवाहवर्द्धन उल्लेखनीय है । यथा—

देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ।। प. प्र. 1.42

अभिव्यक्ति के प्रमुख अंगों में भाषा, अलंकार आदि तत्त्वों का महत्त्व महनीय है किन्तु जो भूमिका छन्द की है उसका महत्त्व सर्वाधिक है । मंत्र मूल्यवान है किन्तु मंत्र की महिमा तंत्र पर निर्भर करती है । यदि तंत्र सदोष और निष्प्रभ है तो मंत्र चाहे जितना तेजस्वी क्यों न हो लोक में उसकी प्रभावना अधिक नहीं होती । काव्याभिव्यक्ति में तंत्र वस्तुतः छन्द ही है । अक्षर, उनकी संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रा-गणना तथा यति-गति आदि से सम्बन्धित विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य-रचना छन्द कहलाती है । छन्द की उत्पत्ति छद् धातु से मानी गई है जिसका अर्थ है रक्षण तथा आह्लाद । इसके द्वारा कवि का प्रायोजन सुरक्षित रहता है और वह इस प्रकार प्रबंधित रहता है कि पाठक अथवा श्रोता आनन्द से भर-उभर जाता है, अभिभूत हो जाता है । इतनी बड़ी भूमिका का सफल निर्वाह करता है छन्द । विवेच्य कवि ने कहने के लिए अनेक छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें गाथा, स्रग्धरा, मालिनि, चतुष्पदिका तथा दोहा उल्लेखनीय हैं ।

अपभ्रंश का लाड़ला छन्द है दोहा । इसे यहां दूहा कहा गया है । विवेच्य कवि ने दोहा का सर्वाधिक प्रयोग किया है । योगसार की रचना दोहा छन्द में ही है । परमात्मप्रकाश की रचना भी अधिकांशतः दोहा छन्द में ही हुई है ।

इस प्रकार परमात्मप्रकाश और योगसार नामक ग्रंथों पर आधारित कविवर योगीन्दु का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन संक्षेप में जाना जा सकता है । छठी शती के अपभ्रंश कवि जोइन्दु उच्चकोटि के आत्मिक रहस्यवादी साधक हैं, कवि हैं । इनके परमात्मप्रकाश और योगसार में जीव और अजीव तत्त्व की उत्कृष्ट विवेचना हुई है । संसारी प्राणी के भव-भ्रमण से विमुक्त्यर्थ सन्मार्ग का प्रवर्तन कर कवि ने सचमुच बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इस शुभ कार्य से जहाँ एक ओर काव्यशास्त्रीय सत्यं तत्त्व का संवर्द्धन हुआ है वहाँ दूसरी ओर शिवं तत्त्व की स्थापना सुन्दर शैली में की गई है । कविमनीषी जोइन्दु अपभ्रंश के सशक्त तथा प्रभावपूर्ण रचनाकार हैं जिनके काव्य को प्रतिष्ठित करने-कराने के लिए किसी की कोई संस्तुति की आवश्यकता नहीं है । वे सचमुच स्वयंभू हैं, मनीषी हैं और परिभू हैं ।

सच्चा धर्म

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुंचियइँ ।।
राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचमगइ णेंइ ।।

अर्थ—पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता, न केशलुंचन से धर्म होता है।

जिनेन्द्रदेव ने कहा है–राग और द्वेष दोनों को छोड़ कर निज-आत्मा में वास करना ही धर्म है। यह धर्म ही पंचमगति अर्थात् मोक्ष ले जाता है।

योगसार 47–48

योगीन्दुदेव और हिन्दी संत-परम्परा

—डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर'

□

आचार्य योगीन्दु अपभ्रंश साहित्य के कुन्दकुन्द हैं जिन्होंने अध्यात्मक्षेत्र को नया आयाम दिया है और दर्शन की परिसीमा को विस्तृत किया है। वे स्वयं प्रखर भक्त, आध्यात्मिक संत और कठोर साधक थे। उनकी साधना स्वानुभूति और स्वसंवेद्यज्ञान पर आधारित थी इसलिए उनके ग्रन्थ रहस्यभावना से ओत-प्रोत हैं। उनका हर विचार अनुभूति की पवित्र निकष से निखरा हुआ है जो संप्रदायातीत और कालातीत है।

कितना आश्चर्य का विषय है कि ऐसे महान् अध्यात्म-रसिक कवि का जीवन-वृत्तान्त लगभग न के बराबर उपलब्ध होता है।

योगीन्दु का काल भी निर्विवाद नहीं है। डॉ० उपाध्ये ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वे ईसा की छठी शताब्दी में हुए हैं[1]। चण्ड ने अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत लक्षण के संदर्भ में 'परमात्मप्रकाश' का 85 वां दोहा[2] उदाहरण के रूप में सम्मिलित किया है। हर्न्ले की दृष्टि में यह उदाहरण वररुचि के बाद समाहित किया गया है। वररुचि का समय 500 ई. के आसपास माना जाता है। गुणे इसे छठी शताब्दी के बाद का मानते हैं। इधर आचार्य हेमचन्द्र (1089–1173) ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में

योगीन्दु के परमात्मप्रकाश के कुछ दोहों का उल्लेख किया है[3]। रामसिंह के दोहापाहुड अथवा पाहुडदोहा पर योगीन्दु के ग्रन्थों का बहुत प्रभाव है। हेमचन्द्र ने रामसिंह के कुछ दोहों का उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर योगीन्दु का समय छठी-सातवीं शताब्दी के आसपास होना चाहिए। यह काल इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि बौद्ध-सिद्ध संतों पर योगीन्दु की रचनाओं का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। अन्त साधना पर उन्होंने अधिक जोर दिया है जो योगीन्दु के विचारों का अनुकरण करता प्रतीत होता है। ये रचनाएं रहस्यवादी हैं। बौद्धगान और दोहा तथा हिन्दी काव्यधारा में पं. राहुल सांकृत्यायन ने इन सिद्धों का समय सं. 817 माना है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने इसे सं. 690 निश्चित किया है। योगीन्दु का समय इन सिद्धों के पूर्व ही होना चाहिए। अतः योगीन्दु का काल छठी-सातवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

योगीन्दु एक रहस्यवादी कवि थे। उन पर आचार्य कुन्दकुन्द का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ब्रह्मदेव ने अपनी संस्कृत टीका में जहां-तहां कुन्दकुन्द की समान गाथाओं का उल्लेख करके इसे और प्रमाणित कर दिया है। रहस्यवाद की यही परम्परा आगे चलकर रामसिंह, देवसेन, आणंदा, आनंदघन, बनारसीदास, भूधरदास, द्यानतराय आदि जैन कवियों में पुष्पित हुई है और इसी को बौद्ध संतों ने कुछ और आगे बढ़कर अपनाया है। इसी का प्रभाव हिन्दी संत साहित्य पर पड़ा। निर्गुणियों के साथ-साथ सगुण परम्परा भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। पं. परशुराम चतुर्वेदी[4] आदि विद्वान् इस परम्परा को नवीं शती से प्रारम्भ होना मानते हैं परन्तु उन्होंने अपने अध्ययन में योगीन्दु का कोई उल्लेख नहीं किया। योगीन्दु की रचनाओं में प्रवेश करने के बाद अध्येता को बाध्य होकर यह कहना पड़ता है कि संत-परम्परा की मूल भूमिका योगीन्दु ने तैयार की और उसी पर उत्तरकालीन परम्परा आधारित रही है। संतों ने निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के बीच का मार्ग अपनाया है।

संत कवि 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आँखिन देखी' पर अधिक विश्वास किया करते थे। स्वानुभूति उनका विशेष गुण था। यह गुण उसी को प्राप्त हो सकता है जो राग-द्वेषादि विकारों को दूर कर परमात्मपद की प्राप्ति में सचेष्ट हो।[5] पालि साहित्य में संत उसे कहा गया है जिसने इन्द्रियनिग्रह कर लिया हो।[6] इसमें मन्त्र-तन्त्रादि की आवश्यकता नहीं, बल्कि स्वानुभव की आवश्यकता होती है।

योगीन्दु ने संत शब्द की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि रागादि विभाव-रहित साधक परमानन्दस्वभावी, शान्त और शिवस्वरूप होता है–

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद–सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।।
जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ।। प. प्र. 1.17-18

संत शब्द की यही व्याख्या उत्तरकालीन हिन्दी संत साहित्य में स्फुटित हुई है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्द इस संदर्भ में स्मरणीय हैं—"जो सत्यस्वरूप, नित्य,

सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्षरूप से उपलब्ध कर चुके हैं, वे ही संत हैं। संत ही चैतन्यस्वरूप है और चैतन्यस्वरूप ही आनन्दस्वरूप है।"[7] मुनि रामसिंह ने (पाहुड़दोहा में) 'संत' को 'शिव' से जोड़कर शिव की व्याख्या इस प्रकार की है —

जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु।
तिहुवण सामिउ णाणमउ, सो सिवदेउ णिभंतु॥ 54॥

संत साहित्य का निर्माण प्रायः ऐसे साधकों ने किया है जो परम तत्त्व की खोज में रहे हैं। उसकी खोज करते समय उन्होंने सद्गुरु, आत्मनिवेदन, नामस्मरण, संसार की असारता, परमतत्त्व का निरूपण, असाम्प्रदायिकता, भेदविज्ञान, समरसता, चित्त-विशुद्धि स्वानुभूति आदि तत्त्वों पर विशेष बल दिया है। ये ही तत्त्व संत साहित्य के लिए आधारशिला के रूप में प्रमाणित हुए। योगीन्दुदेव ने अपनी रचनाओं में इन तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण किया है। त्रिलोचन, कबीर, नानक, आनन्दघन, सुन्दरदास, सहजोबाई, तुलसीदास आदि संतों ने उनके इस विश्लेषण का भरपूर उपयोग किया है। कबीर ने संत को निरवैरी और निष्काम बताया है तथा तुलसी ने उसे समचित्त, सरलचित्त और परोपकारी कहा है।

संसार की असरता

संसार अनित्य, अस्थिर और क्षणभंगुर है। संकल्प (ममत्व) और विकल्प (हर्ष-विषाद) रूप परिणाम (प. प्र. 1.16 टीका) और राग-द्वेष कर्मबन्ध का कारण है (प. प्र. 2.79)। यह जानता हुआ भी जीव मिथ्यात्व और अविद्या के कारण परपदार्थों में स्वत्व की भावना कर लेता है। आत्मानुभूति की इच्छा से विमुख होकर आठ मद, आठ मल, छह अनायतन व तीन मूढता इन पच्चीस दोषों में मग्न हो जाता है। इससे परमतत्त्व की प्राप्ति धूमिल हो जाती है। अतः साधक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह संसार की क्षणभंगुरता को स्वीकार करे बाह्य पदार्थों का परिग्रह छोड़े, आहार-मोह, लोभ, जीवहिंसा आदि का त्याग करे और द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के संसर्ग से मुक्त होकर परमपद की प्राप्ति में प्रयत्नशील हो (प. प्र. 2.108–126)। वस्तुतः मिथ्यात्व और कर्म ही संसरण के कारण हैं (प. प्र. 1.67,77)।

कबीर ने इसी को "का माँगूं कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई"[8], "ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल"[9], नानक ने "आध घड़ी कोउ नहिं राखत घर तैं देत निकार"[10], सूर ने "मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया"[11] और तुलसी ने "मैं तोहिं अब जान्यो, संसार"[12] कहा है। योगीन्दु की इसी परम्परा में बनारसीदास ने "देखो भाई महा विकल संसारी"[13], द्यानतराय ने "मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार रे"[14] और भूधरदास ने "चरखा चलता नाहि (रे) चरखा हुआ पुराना रे"[15] जैसी भावना की अभिव्यक्ति की है। इन पदों में संसार, शरीर, विषयवासना, पदार्थ, कर्म, मिथ्यात्व, कषाय आदि से राग-प्रवृत्ति को दूर करने का उपदेश दिया गया है। संत सिंगाजी (सं. 1576) की "संगी हमारा चंचला, कैसा हाथ जो आवे (संतकाव्य 5.238), और दरिया की "जहि देखूं तेहि बाहर भीतर, घट-घट माया लागी (वही पृ. 404), वाणी संसार की असारता

को स्पष्ट करती है और माया को संसार का कारण बताती है । इस तरह सभी संतों ने संसार की क्षणभंगुरता को स्वीकार किया और माया और मिथ्यात्व को संसार का कारण माना ।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा और परमात्मा के विषय में दार्शनिक क्षेत्र निर्विवाद नहीं रहा । प्रारंभिक वैदिक साहित्य में आत्मवाद का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता । उत्तरकालीन उपनिषद् साहित्य में उसकी अवश्य चर्चा हुई है । कठोपनिषद् में उसके तीन भेद किये गये हैं–ज्ञानात्मा, महदात्मा और शांतात्मा । डायसन की दृष्टि में छांदोग्योपनिषद् में इन्हीं भेदों को शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा की संज्ञा दी है ।[16] बौद्धधर्म का आत्मा अव्याकृतता से चलकर अनात्मवाद और निरात्मवाद तक पहुंचा ।[17] न्याय-वैशेषिक में जीवात्मा तथा परमात्मा के रूप में उस पर विचार किया गया है ।

जैनदर्शन मुख्यरूप से आत्मप्रधान धर्म है । उपनिषद् दर्शन निश्चितरूप से उससे प्रभावित है । जैन आगम में जैनदर्शन के अनुसार आत्मवाद की अच्छी मीमांसा की गयी है । अध्यात्मवादी कुन्दकुन्द ने उसी के आधार पर आत्मा का सुन्दर विवेचन अपने सारे ग्रन्थों में किया है । योगीन्दु ने उन्हीं का अनुकरण कर आत्मा को ही केन्द्रित करके अपनी बात कही है । उन्होंने आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके तीन भेद कर दिये–बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा । मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जो परमात्मा को नहीं समझता हो, संसार के विषय–पदार्थों में आसक्त रहता हो और देह को ही आत्मा मानता हो, वह बहिरात्मा है ।[18] जो सांसरिक पदार्थों को त्याग देता है, परमात्मा के स्वरूप को समझने लगता है और आत्मा की शुद्ध अवस्था पाने के मार्ग पर चलने लगता है वह अन्तरात्मा है । जो अष्टकर्म-विमुक्त निर्मल, निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव और शांत है उसे परमात्मा कहा गया है ।[19]

आत्मा की ये तीन अवस्थायें हैं, इन अवस्थाओं में बहिरात्मा संसारी है वह देह और आत्मा को एक मानकर शारीरिक सुख को ही सुख मानता है परन्तु अन्तरात्मा अवस्था में साधक देह और आत्मा को पृथक् मानने लगता है तथा संसार से विरक्त हो जाता है । तृतीय और अन्तिम अवस्था परमात्म पद की है जो परम विशुद्ध और निरंजन है । इसी ज्ञानमय, परमानंदस्वभावी, निरंजन, शांत, शुद्ध बुद्धस्वभावी, परमात्मा, परमब्रह्म, परमशिव परमविष्णु आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है (प. प्र. 2.107) । योगसार में उसी को पंडितात्मा और केवलज्ञानस्वभावी कहा है (गाथा 9, 26) ।

योगीन्दु ने बहिरात्मा का उतना वर्णन नहीं किया जितना अन्तरात्मा और परमात्मा का । परमात्मा का ही पूर्व रूप अन्तरात्मा है इसलिए उस अवस्था का वर्णन कवि ने काफी किया है । यह साधना की अवस्था है इसलिए यह वर्णन चारित्रप्रधान हो गया है । उसी के माध्यम से परमात्मावस्था की प्राप्ति होती है । उसी को शुद्ध स्वरूप और समभाव में प्रति-

ष्ठित किया है। समभावी ही निर्वाण पाता है उसी को आत्मज्ञानी कहा है (प. प्र. 2.85–104)। यह अनंतचतुष्टयरूप स्वयंवेदी परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति की देह में विद्यमान है अतः सिद्ध और स्वयं में भेद करने की आवश्यकता नहीं।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ।।[20]

इसी तथ्य को योगसार में कवि ने इस प्रकार कहा है कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए विकल्प छोड़कर इस अवस्था को प्राप्त करना चाहिए।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ।। 22।।

यह परमात्मा न किसी देवालय में है, न किसी पाषाण की प्रतिमा में और न किसी लेप अथवा चित्रांक की मूर्ति में है। वह देव तो अक्षय है, अविनाशी है, निरंजन है, ज्ञानमयी है। ऐसा शिव परमात्मा समभाव में ही प्रतिष्ठित होता है। समभावी मुनि वह है जिसके लिए सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, पत्थर-सोना, जीवन-मरण समान है। इसी को समण कहा गया है।[21]

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ।। 1.123, प.प्र.

यह परमात्मज्ञान गुरुप्रसाद के बिना नहीं होता। जब तक यह ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति या जीव कुतीर्थों में भ्रमण करता है। यह जिनदेव परमात्मा देह-देवालय में विराजमान है, परन्तु जीव ईंट-पत्थरों से निर्मित देवालयों में उसके दर्शन करता है, यह कितनी हास्यास्पद बात है। यह बात ऐसी ही है जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिए भ्रमण करे। सब कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और देवालय में विद्यमान रहते हैं परन्तु जो जिनदेव को देह-देवालय में विराजमान समझता है ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है।

ताम कुतित्थइं परिभमइ–धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइ ।। 41 ।।
तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ।।42 ।।
देहा देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ।। 43 ।।
मूढ़ा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ।। 44 ।।
तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ।। 45 ।। यो. सा.

यहाँ योगीन्दु ने गुरु-प्रसाद की बात कही है। जैनधर्म में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को पंच परमेष्ठी कहा गया है और उन्हीं को पंचगुरु भी माना जाता है। साधक कवियों ने उनकी स्तुतियाँ भी की हैं। यह परमात्मपद बहिरात्मा अथवा मिथ्या-दृष्टियों को नहीं मिल पाता। मैं गोरा हूँ, काला हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, आदि कर्मजनित भाव हैं अतएव त्याज्य हैं। इसी तरह मैं ब्राह्मण हूँ, वैश्य हूँ, क्षत्रिय हूँ, शूद्र हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, स्त्री हूँ, ये सभी भाव शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। मैं तरुण हूँ, वृद्ध हूँ, रूपवान हूँ, वीर हूँ, पंडित हूँ, श्रेष्ठ हूँ, दिव्य हूँ, दिगम्बर हूँ, श्वेताम्बर हूँ, जैन हूँ, बौद्ध हूँ, आदि भेद व्यवहार नय से हैं। निश्चयनय से तो वीतराग सहजानन्दस्वभावी जो परमात्मा है उससे ये गुण भिन्न हैं।[22] अतः आत्मा को छोड़कर दूसरा कोई दर्शन नहीं, कोई ज्ञान नहीं और दूसरा कोई चारित्र नहीं। यही आत्मा तीर्थ है, गुरु है, देव है। फिर पाषाणनिर्मित मन्दिर या तीर्थ जाने की क्या आवश्यकता? इसी विशुद्ध आत्मा का ध्यान करने से परमात्मपद की प्राप्ति हो जायगी। यहाँ कवि ने परिणाम (भाव) को प्रधान मानकर उसे ही बंध-मोक्ष का कारण कहा है।

परिणामें बन्धु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि। 14 यो. सा.

आत्मा केवलज्ञानस्वभावी है। आत्मज्ञान होने पर ही व्यक्ति सर्वज्ञ होता है। आत्म-ज्ञान होने से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है। विषय-कषाय-रूप विकल्पजाल को त्यागे बिना स्वसंवेदन ज्ञान नहीं होता और स्वसंवेदन ज्ञान बिना परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। परमार्थ को समझनेवाला जीव छोटा-बड़ा नहीं होता। वह तो परमब्रह्म स्वरूप है (प.प्र.2.94)। व्यवहारनय से आत्मा सर्वगत है, जड़ है, देही है, शरीरप्रमाण है परन्तु शुद्धनय या निश्चयनय से वह नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी, परमानंदस्वभावी, शांत और शिवस्वरूप है।[23] मुनि रामसिंह ने भी निरगुण, निरंजन और परमात्मा की इन्हीं विशेषताओं का वर्णन किया है। उसमें काला गोरा, छोटा, बड़ा, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद करना मूर्खता है।[24] हरिभद्रसूरि ने "आग्रहीवत् निनीषतयुक्तम्" कहकर इन विषमताओं से दूर रहनेवाले किसी भी आप्त, वीतराग को पर-मात्मा कहकर निष्पक्षता प्रदर्शित की है। यही निष्पक्षता और असाम्प्रदायिकता योगीन्दु के काव्य में देखी जाती है। जहाँ वे कहते हैं कि जिस परमात्मा को मुनि परमपद, हरि, महादेव, ब्रह्मा, बुद्ध, और परमप्रकाश कहते हैं वह रागादिरहित शुद्ध जिनदेव ही है। उसी के ये सब नाम हैं—

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिण देउ विसुद्धु।। 2.200 **प. प्र.**

सो सिउ संकरु विण्हुँ सो सो रुद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु।। 105 **यो. सा.**

योगीन्दु के समान अन्य सन्त कवियों ने भी किसी धर्मग्रन्थ की प्रामाणिकता न मानकर स्वानुभूति को विशेष महत्त्व दिया है। कबीर ने भी इसी को सच्चा आनन्द कहा

है—आपहु आप विचारिये तब केता होय आनन्द रे।[25] कबीर का ब्रह्म सर्वव्यापक है। उन्होंने उसके अनन्त नाम दिये हैं—अपरम्पार का नाऊं अनन्त। राम, रहीम, खुदा, खालिक, केशव, करीम, वीदुलराउ, सत् संतनाम अपरम्पार, अलखनिरंजन, पुरुषोत्तम, निर्गुण, निराकार, हरि, मोहन आदि। सर्वात्मवाद और द्वैतवाद के सम्मिलित स्वर में नामदेव ने इसी को मुरारि कहा जो सर्वत्र सभी प्राणियों में विद्यमान है।[26] दादू ने इस को "बाबा नहीं दूजा कोई। एक अनेक नाऊं तुम्हारे मौपै और न होई" कहा है।[27] योगीन्दु के समान कबीर ने भी 'परमात्मा या ब्रह्म को "वरन विवरजित है रह्या, नां सो स्याम न सेत" कहा।[28] रैदास ने उसे निश्छल, निराकार, अज, अनुपम, निरभय, अगम, अगोचर, निर्गुण, निरविकार, अविनासी कहा।[29] नानक ने योगीन्दु के समान उसे निरंजन कहा।[30] दादू ने भी उसे अगम, अगोचर, अपार, अपरम्पार कह कर परमात्मा के उपर्युक्त स्वरूप को स्वीकार किया।[31]

कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि सभी संतों ने प्रत्येक प्राणी के अन्दर परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है जिसे वह मिथ्यात्व या अविद्या के कारण जान नहीं पाता। मिथ्यात्व या अविद्या के दूर होते ही वह यह समझने लगता है कि 'जीव ब्रह्म नहिं भिन्न' जीव और परमात्मा में कोई भेद नहीं।[32] दादू ने इसी तथ्य को "परमातम सो आतम, ज्यों जल उदक समान" कहा। योगीन्दु के समान अन्य संत भी इसे स्वीकार करते हैं कि माया अथवा अविद्या के कारण आत्मज्ञान नहीं हो पाता। जायसी ने ब्रह्म-मिलन में माया और शैतान ये दो तत्त्व बाधक माने हैं। कबीर ने माया को छाया के समान[33] महाठगिनी कहा,[34] तो तुलसी ने उसे वमन की भांति त्याज्य बताया[35]।

योगीन्दु ने कहीं अपने आपको मुनि नहीं कहा। संभव है वे गृहस्थावस्था में रहकर ही अपनी साधना करते रहे हों। सन्त भी इसी परम्परा के अनुयायी रहे। आत्मज्ञान की प्राप्ति में उन्होंने वेद, शास्त्र आदि को व्यर्थ माना। आत्मज्ञान के संदर्भ में कबीर का कथन "भाषा पर जब चीठिइयां तब उलट समाना माहिं"[36] "हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताहीं सौं ल्यौ लाइ"[37] "हरि में तन है तन में हरि है सुनि नाहीं सोय"[38] द्रष्टव्य हैं। उन्हें दुःख और आश्चर्य होता है कि अपने भीतर विद्यमान आत्मा-परमात्मा को कोई नहीं देखता—

कस्तूरी कुंडली बसै, मृग ढूंढे वन मांहि।
ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनियां देखे नाहि॥[39]

योगीन्दु ने चित्तशुद्धि को प्रमुखता दी। उन्होंने कहा कि चित्त यदि राग-द्वेषादिक विकारों से ग्रस्त रहा तो अनशनादि बाह्य तप निरर्थक हैं। निर्विकल्प वीतराग चारित्र से ही आत्मसिद्धि होती है। जो निर्विकल्प आत्म-भावना से शून्य है वह शास्त्रज्ञानी और तपस्वी होता हुआ भी परमार्थ को नहीं जान पाता। योगीन्दु ने उसे 'मूढ़' कहा हैं। वीतरागता और स्वसंवेदन ज्ञान से रहित जीवों को तीर्थ-भ्रमण करने से भी मोक्ष नहीं मिलता।[40] जब तक परमशुद्ध पवित्र भाव का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक मूढ़ लोगों के जो व्रत, तप, संयम और मूल गुण हैं उन्हें मोक्ष का कारण नहीं माना जाता। मंत्र पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता। किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं, केशलुंच करने से भी

धर्म नहीं । धर्म तो वहां है जहां राग-द्वेषादि छोड़कर शुद्ध निजात्मा में वास होता है । चित्त अथवा मन की चंचलता छोड़कर उसे विशुद्ध और स्थिर करना आवश्यक है—

धम्मु ण पढियइं होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुंचयइं ।। 47 ।।
राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइं ।। 48 ।। **यो. सा.**

संतों ने भी चित्तशुद्धि पर जोर दिया है । उन्होंने भी सद्गुरु और सत्संग को महत्त्व दिया है । योगीन्दु की परम्परा में हुए मुनि रामसिंह ने भी चित्तशुद्धि बिना तीर्थ-भ्रमण और सिरमुंडन निरर्थक माना है ।[41] संत कवि भी "हरि न मिले बिन हिरदै सूध" के उपासक हैं । स्वानुभूति को भी उन्होंने प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकारा है । इसलिए अन्ध-विश्वासों को दूर करने में उन्होंने अपनी बहुत कुछ शक्ति लगा दी । बाह्याचार, शास्त्र-पठन, तीर्थ-भ्रमण को उन्होंने व्यर्थ कहा । सरह ने "की तेहि तीर्थ तपोवन आइ । मोक्ष की लभि यहि पानि नहाई"[42] कहा तो गोरखनाथ ने "पाषाण की देवली पाषाणं च देव, पाषाणं पूजिला कैसे फीटीला सनेह"[43] कहकर पूजा-पाठ को व्यर्थ माना । कबीर पाखंडियों की दशा का वर्णन करते हैं—

पंडित भूले पढि गुनि वेदा, आपु अपनपौ जानु न भेदा ।
संझा तरपन औ षट् करमा, ई बहुरूप करहिं अस धरमा ।।
गाईत्री जग चारि पढ़ाई, पूछहु जाय मुकति किन पाई ।।[44]

कबीर की इस प्रकार की विचारधारा को व्यक्त करनेवाले अनेक पद्य मिलते हैं । नानक ने "कोई नावै तीरथि कोई हज जावै"[45] कहकर और सुन्दरदास ने "तौ भक्त न आवै, दूरि बतावै, तीरथ जावै फिरि आवै"[46] लिखकर इसी पाखंडपूर्ण बाह्याचार का ही उल्लेख किया है । दादूदयाल ने तो स्पष्ट कहा है कि सारा बाह्याचार झूठा है ।[47]

आन्तरिक शुद्धि से साधक परमात्म-साक्षात्कार करता है और परमतत्त्व में ऐक्य स्थापित कर समरस हो जाता है । समरसता में उसकी दृष्टि समभाव में प्रतिष्ठित होती है, सभी जीव उसे समान होते हैं ।[48] जाति-पांति में उसका कोई विश्वास नहीं होता (प.प्र 2.107) । रत्नत्रय की उपलब्धि भी समभावी को ही होती है और वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है ।[49] उसकी साधना का लक्ष्य पूरा हो जाता है इसलिए समरस होने पर योगीन्दु के सामने यह समस्या आयी कि वे अब किसकी पूजा करें—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउं कस्स ।। 1.123 (2) प.प्र.

मुनि रामसिंह ने भी इसी समस्या का सामना किया ।[50] समरसता का यह अनुभव सन्त कवियों ने भली-भांति किया है । आणंदा ने "समरस भावे रमियां अप्पा देखई सोई"[51] कहकर इसी का अनुभव किया और कबीर ने भी सर्वत्र उसी का दर्शन किया—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूं ।
बारी फेरी बलि गई, जिन देखों तित तूं ॥[52]

योगीन्दु ने अपने ग्रन्थों में खण्डन-परम्परा को अधिक प्रश्रय नहीं दिया । आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते समय न्याय-वैशेषिक, सांख्य और बौद्धों के मतों का मात्र उल्लेख कर उनके प्रति असहमति अवश्य व्यक्त की और इसी प्रकार जगत्कर्ता-हर्ता-संरक्षक के रूप का भी खण्डन किया ।[53] उनका सारा विवेचन अभेद और भेद, शुद्ध और अशुद्ध, निश्चय और व्यवहार पर ही आधारित रहा है । पुण्य और पाप की मीमांसा करते हुए शुद्धनय से उन्होंने पुण्य को भी त्याज्य बताया और कहा कि पुण्य को भी पाप माननेवाला विरल ही होता है ।[54] योगीन्दु ने प्रभाकर भट्ट को 'जिणवर बंदहुं भत्तियए' कहकर भक्ति का भी उपदेश दिया है पर उनकी दृष्टि में भक्ति से होनेवाला पुण्यबंध साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है । परम्परा से उसे मोक्ष का कारण अवश्य माना जा सकता है ।[55] इसी संदर्भ में मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि को भी व्यवहार ध्यान कहा है जिसको परमात्मा के ध्यान में निषिद्ध माना गया है (प.प्र. 1.22) । निर्विकल्प समाधि के स्वरूप को भी यहां स्पष्ट किया गया है ।[56]

परमात्मप्रकाश में दृष्टान्तों की भी कमी नहीं है । वस्तुस्वरूप को प्रस्तुत करने में उन्होंने वन, वृक्ष, चन्द्र, नाव, अग्नि, दीमक, बन्दर, समुद्र आदि का उपयोग किया है । संत परम्परा में भी उनका उपयोग होता रहा है ।

योगीन्दु और ब्रह्मदेव ने कुछ विशिष्ट शब्दों की परिभाषाओं को भी स्थिर करने का प्रयत्न किया है । उदाहरणतः बोधि-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति (2.9), समाधि-निर्विषयता से बोधि को धारण करना (2.9), संकल्प-ममत्वरूप परिणाम (2.16), विकल्प-हर्ष विषाद रूप परिणाम (2.16), निरंजन-वर्ण, गंध, रसादि रहित (2.19–21), मंत्र, यंत्र, मंडल, मुद्रा (2.22), दर्शन-निजात्मा को देखना (2.41), संयमी-शांतभावावस्था (2.41), सुखी-निज स्वभाव में स्थिर (2.43), बंधु-ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध (2.44), गहिलु-पागल (2.44), ज्ञानी-आत्मज्ञानी (2.47–88), परममुनि-वीतरागी (2.50–2), निर्वरण-पुण्य-पाप का नाश (2.63), धर्म के विविध अर्थ (2.68), तीर्थ (2.85), समभाव (2.100), अहिंसा-रागादि भावों का अभाव (2.125), अभयदान–स्वदया-परदया (2.127), गुरु (2.130), योगी (2.160), परमसमाधि-समस्त विकल्परहित अवस्था (2.189.90), वैराग्य-शुद्धात्मानुभूति स्वभाव (2.192), तत्त्वज्ञान-शुद्धात्मोपलब्धि (2.192), अरहंत-भावमुक्त, जीवनमुक्त, केवल ज्ञानी आदि । इन शब्दों को संत-परम्परा में भी आसानी से देखा जा सकता है । उनकी परिभाषाएं भी लगभग इसी रूप में हुई हैं ।

इस प्रकार योगीन्दु की परम्परा एक ओर जहां जैन कवियों को मान्य रही है वहीं दूसरी ओर सन्त कवियों ने भी उसे पूरी तरह से पचा लिया है । संत-साहित्य की जो भी विशेषताएं हैं, वे प्रायः योगीन्दु से प्रभावित हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता । योगीन्दु की परम्परा को सुदृढ़ करनेवालों में मुनि रामसिंह, आणंदा, आनन्दघन, बनारसीदास, भूधरदास,

बुधजन, द्यानतराय, दौलतराम श्रादि जैनकवियों का नाम अग्रगण्य है। संत कवियों में नामदेव, कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास, चरणदास, रामचरण श्रादि साधकों का विशेष नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने योगीन्दु के स्वर को श्रात्मसात किया। श्रतः संत साहित्य के विकास में योगीन्दु के योगदान का मूल्यांकन किया जाना श्रत्यावश्यक है।

---

1. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ. 63–67।
2. कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ।
   तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमें श्रप्पु मुणेइ।1.85।
3. सूत्र 4.389 के 'संता भोग जु परिहरइ' की तुलना परमात्मप्रकाश के 2.139 वें दोहे 'संता विसय जु परिहरइ' से कीजिए। इसी तरह हेम. 4.365, 4.427 पर उद्धृत दोहों को परमात्मप्रकाश के क्रमशः 2.147 श्रौर 2.140 दोहों में देखा जा सकता है।
4. संतकाव्य भूमिका, पृ. 6।
5. परमात्मप्रकाश, 2.80–81।
6. श्रंगुत्तरनिकाय (दो.), 2.38 सुत्तनिपात, 144, उपसंतकिलेस, मिलिन्दपंहो, 232।
7. कल्याण, संत श्रंक, प्रथम खण्ड, श्रावण 1994. पृ. 21।
8. संत काव्य, पृ. 139।
9. कबीर साखी संग्रह, पृ. 61।
10. संतवाणी संग्रह, सागर, पृ. 49।
11. सूर सागर, 1110।
12. विनय पत्रिका, पद 188।
13. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 55।
14. वही, पृ. 130।
15. वही, पृ. 152।
16. परमात्मप्रकाश, भूमिका पृ. 33, सम्पादक—डॉ. ए. एन. उपाध्ये।
    पाल डॉयसन—दी फिलासफी श्रॉफ द उपनिषदाज, छंदोग्यपनिषद 308.7-12।
17. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, डॉ० भागचन्द्र जैन, तृतीय श्रध्याय।
18. योगसार 8-10, परमात्मप्रकाश 2.79।
19. योगसार, 6-9, परमात्मप्रकाश 2.15 से 25।
20. प. प्र. 1.26 इससे परमात्मप्रकाश के ही एक श्रन्य दोहे 1.122 का मिलान कीजिए–
    णिय-मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ श्रणाइ।
    हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ।।

21. समसन्तु बंधुवग्गों समसुह दुक्खों पसंसजिदसमो ।
सम लोह कंचणमे विय जीविय मरणे समो समणों ।।

22. हऊं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-ग्रंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ।।
हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णंउसउ इत्थि हउँ मण्णइ मुढु विसेसु ।। परमात्मप्रकाश 1.80-81

23. प. प्र. 1.17 से 21, 93 से 123 ।

24. पाहुडदोहा, 19, 38, 60 ।

25. कबीर ग्रंथावली, पृ. 96, पद 23 ।

26. सन्त सुधासार, पद 1 ।

27. वही, पृ. 435 ।

28. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी बारह पदी, पृ. 242-3 ।

29. रैदास की बानी, पद 53-3-4 ।

30. ग्रापे ग्रापि निरंजन सोई—संत सुधासार, पृ. 244 ।

31. दादूदयाल की बानी, भाग-2, पद 93 ।

32. कबीर ग्रंथावली, पृ. 105 ।

33. माया छाया एकसी बिरला जाने कोय-संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृ. 57 ।

34. सुनि ठगिनी माया, तै सब जग ठग खाया—कबीर, पद्य 134 ।

35. तुलसी रामायण, ग्रयोध्याकांड 323-4 ।

36. कबीर ग्रंथावली, पृ. 215 ।

37. वही, पृ. 217 ।

38. वही, पृ. 477 ।

39. वही, पृ. 297 ।

40. बोह-णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ।।
तित्थइँ तित्थु भमंताहं मूढहँ मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ।। परमात्मप्रकाश-2 84-85

41. पाहुडदोहा, 135, 146, 154, 161 ।

42. हिन्दी काव्यधारा, पृ. 5 ।

43. संत सुधासार, पृ. 32 ।

44. कबीर बीजक, टीका विचरदास, रमैनी 35 ।

45. संत सुधासार, पृ. 347 ।

46. वही, पृ. 514 ।

47. झूंठे देवा, झूठी सेवा, झूठा करै पसारा ।
झूंठी पूजा झूंठी पाती, झूंठा पूजनहारा ।
झूंठा पाठ करै रे प्राणी, झूठा भोग लगावै ।
झूठा आडा पडवा देवें, झूठा थाल बजावै ।।
—दादू दयाल की बानी, भाग-2, शब्द 197 ।

48. परमात्मप्रकाश 2. 96-7, 2.70 ।

49. प. प्र. 2-40-6, 2.100-105, योगसार–100 ।

50. पाहुडदोहा, पृ. 16 ।

51. आणंदा, 40 ।

52. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 110 ।

53. परमात्मप्रकाश, 2-107, 1.50-58 ।

54. प. प्र. 2.55-60, योगसार–71 ।

55. प. प्र. 1.6-7, 2.61-72 ।

56. प. प्र. 2.137-163 ।

अध्यात्म-साधक योगीन्दु और कबीर

—डॉ. पुष्पलता जैन

□

योगीन्दु एक आत्मसाधक योगी थे जिन्होंने अपनी सारी रचनाओं का केन्द्र-बिन्दु आत्मा को बनाया और उसी की साधना में सारा जीवन लगा डाला। वे इतिहास के मध्यकालीन आध्यात्मिक संत थे जिनके काल में साधना का पग दर्शन की ओर बढ़ रहा था। उनके पूर्ववर्ती आचार्य कुंदकुंद इस आध्यात्मिक आन्दोलन के मूल प्रवर्तक थे परन्तु उनके समय आंदोलन ने शायद अधिक जोर नहीं पकड़ा। उनके उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद, समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि ने इस आंदोलन की मूलधारा को दर्शन की ओर मोड़ दिया। योगीन्दु ने इस दर्शन-युग में अध्यात्म के आंदोलन को पुनर्जीवित किया और दर्शन के नीरस साहित्य-वृक्ष को आत्मसाधना की सरसता से हरा-भरा करने का प्रयास किया। आत्मा का प्रवेश तर्क-वितर्क के क्षेत्र में तो हो गया पर उसकी साधना का जो पुष्प सूखने-सा लगा था, योगीन्दु ने उसे नया जीवन-दान दिया।

योगीन्दु के निर्विवाद रूप से दो ग्रन्थ माने जाते हैं—1. परमात्मप्रकाश और 2. योगसार। इन ग्रन्थों पर आचार्य कुन्दकुन्द का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इसीलिए योगीन्दु की आध्यात्मिक परम्परा का प्रारंभिक सूत्र यदि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में देखा

जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी । लगता है योगीन्दु के कारण मध्यकाल में दो समानांतर परम्पराएँ चलती रहीं–आध्यात्मिक परम्परा और दार्शनिक परम्परा । दार्शनिक परम्परा में समन्तभद्र, सिद्धसेन, नागार्जुन, हरिभद्र, अकलंक आदि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अध्यात्म को दर्शन के क्षेत्र में विकसित किया । आध्यात्मिक परम्परा जो कुन्दकुन्द से प्रारम्भ हुई थी और जिसकी बागडोर बाद में योगीन्दु ने सम्हाली थी, नाथों और सिद्धों से गुजरती हुई मुनि मानसिंह, आनंदतिलक, कबीर, बनारसीदास, आनंदघन आदि आत्म-साधकों तक पहुंची । इन परम्पराओं के आचार्य किसी न किसी सांस्कृतिक परम्परा से जुड़े हुए थे । फिर भी उनकी रचनाओं में समन्वयवाद और असाम्प्रदायिकता से सनी आत्म-साधना का लक्ष्य रहा है ।

योगीन्दु की सारी साधना 'अप्पसंबोहण' की साधना है[1] । उन्होंने अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को भी आत्मसंबोधन के ही माध्यम से शुद्धात्म-स्वरूप का विवेचन किया है । उसका प्रश्न वस्तुतः एक सर्वसामान्य प्रश्न है कि यह जीव अनंतकाल तक इस संसार में भटकता रहा पर उसे कहीं भी यथार्थ सुख नहीं मिल पाया, अतः चतुर्गतियों के दुःखों से मुक्त करानेवाले परमात्मा का स्वरूप क्या है ? परमात्मप्रकाश की रचना इसी प्रश्न के उत्तर में हुई है और योगसार भी लगभग इसी विषय को दुहराता है । ये दोनों ग्रन्थ मूलतः शुद्ध नय अथवा निश्चय नय पर आधारित हैं पर उसे स्पष्ट करने के लिए वहाँ व्यवहार नय का भी आश्रय लिया गया है । प्रश्न और उसका उत्तर स्वयं ही व्यवहार और निश्चय नय पर खड़ा है । यही अध्यात्मवाद है और इसी को आधुनिक शब्दों में 'रहस्यवाद' कहा जाता है । योगीन्दु के शब्दों में यह 'परब्रह्मवाद' है । उन्होंने अनेक स्थानों पर परमात्मा को 'परब्रह्म' की संज्ञा दी है[2] । हम जानते हैं, 'परमब्रह्म' वैदिक संस्कृत का शब्द है पर उसके सही स्वरूप को परमात्मा के साथ बैठाकर बात करने के पीछे यही रहस्य है कि अन्ततः उसमें और शुद्ध परमात्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है । यह समन्वय की दृष्टि से उत्तम चिंतन था योगीन्दु का । इसीलिए योगीन्दु के अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद को 'परब्रह्मवाद' भी कहा जा सकता है ।

रहस्य एक ऐसी मानसिक प्रतीति या अनुभूति है जिसमें साधक ज्ञेय वस्तु के अतिरिक्त ज्ञेयान्तर वस्तुओं की वासना से असंपृक्त हो जाता है । उसका प्रयोग विविक्त और गुह्यादि अर्थ में भी हुआ है ।[3] धवलाकार ने इसे अन्तरायकर्म के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।[4] इसे कदाचित् उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने स्वीकार नहीं किया । इस अर्थ में रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ भी कैसे, यह समझ में नहीं आया । हाँ, यह अवश्य है कि आध्यात्मिक वस्तुनिष्ठता के रूप में उनका प्रयोग जैनाचार्यों ने अवश्य किया है । हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण (2.204) में और टोडरमल ने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में उसे अध्यात्म की परिधि में ही रखा है । ब्रह्मदेव ने "पुनःपुनश्चिन्तनलक्षणम्" (2.211, टीका प.प्र.) कहकर कदाचित् इसी ओर संकेत किया है । अतः उसका सम्बन्ध साधना, भावना और अनुभूति से अधिक है ।

आधुनिक युग में रहस्यवाद शब्द अधिक प्रचलित है । प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी परिभाषाएं विविध प्रकार से की हैं । मैं उसकी मीमांसा में नहीं जाना चाहती,

पर इतना अवश्य कहना चाहती हूँ कि रहस्य का सम्बन्ध भावना से है। रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक, स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्त्व से परमतत्त्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की चरमोत्कर्षावस्था की भावाभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है।

अध्यात्मवाद का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इस ब्रह्मसाक्षात्कार को परमार्थप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार, परमपदप्राप्ति, परम सत्य, अजर-अमर पद आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। इसमें 'आत्मचिंतन' को रहस्यभावना का केन्द्र-बिन्दु माना गया है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूतिपूर्वक अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए उसे एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम उसे स्वयं में विद्यमान राग-द्वेष मोहादिक विकारों को विनष्ट करना पड़ता है। ये ही विकार संसारों को जन्म-मरण के दुःखसागर में डुबाये रहते हैं। इनको दूर किये बिना न साधना का साध्य पूरा होता है और न ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी परमतत्त्व तक पहुँचा जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी साधकों ने उनसे विमुक्त होने का उपदेश दिया है। योगीन्दु ने भी ऐसा ही उपदेश देकर आत्मसाधना द्वारा रहस्य के मूल तक पहुँचने का मार्ग स्पष्ट किया है।

इस रहस्य का साक्षात्कार करने की दृष्टि से योगीन्दु ने सांसारिक विषय-वासनाओं को सबसे बड़ा बाधक तत्त्व माना है। इन बाधक तत्त्वों में राग-द्वेष विभाव कर्मबंधन का कारण है और यह कर्मबंध साधक को कोसों दूर रखता है (प. प्र. 2.79)। योगीन्दु ने परद्रव्य-सम्पर्क को महान् दुःख का कारण माना है और इसके लिए उन्होंने दृष्टांत दिया है कि जिस प्रकार अग्नि लोहे के सम्पर्क से पीटी-कूटी जाती है उसी प्रकार दोषों के सम्पर्क से गुण भी मलिन हो जाते हैं अतः विभावरूप दुष्टों की संगति कभी नहीं करना चाहिए—

जो सम-भावहँ बाहिरउ तिं सहुँ मं करि संगु।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥
भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेंहि।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेंहि ॥ 2.109-10 प. प्र.

परमात्मप्रकाश की मूल भावना भी यही रही है जिसमें कवि ने अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को चौरासी लाख योनियों से मुक्त होने का उपदेश दिया है (प. प्र. 1.9-10)। परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए नरजन्म की दुर्लभता का क्रम बताते हुए कहा है कि प्रथमतः एक इन्द्रिय से चौइन्द्रिय रूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ है फिर विकलत्रय से पंचेन्द्रिय, संज्ञी, छह पर्याप्तियों की संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अति दुर्लभ है फिर आर्य क्षेत्र दुर्लभ, उसमें उत्तम कुल पाना और भी कठिन है, फिर सुन्दर रूप, पंचेन्द्रियों की प्रवीणता, दीर्घायु, बल, शरीर-नीरोगता, जैनधर्म इनका मिलना उत्तरोत्तर कठिन है। संयोगवश इतना सब मिल भी जाय तो भी श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ

धर्मश्रवण, धर्म का ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषयसुखों से निवृत्ति, क्रोधादि कषायों का ग्रभाव होना ग्रत्यंत दुर्लभ है ग्रौर उत्कृष्ट शुद्धात्म भावना रूप वीतराग निर्विकल्प समाधि का होना ग्रौर भी कठिन है (प. प्र. टी. 1.16)। इसी संदर्भ में साधक कवि ने जीवहिंसा ग्रादि के दोषों से उत्पन्न होनेवाले स्वघात ग्रौर परघात की चर्चा की है (2.125 से 142)। इन सबसे कर्म बंधते हैं जो संसार का कारण है।

कबीर भी योगीन्दु के समान शरीर को क्षणिक ग्रौर नश्वर मानते हुए उसे कागद की पुड़िया (कबीर ग्रंथावली पृ. 117), कागद का पुतला, जलबूंद ग्रादि कहा है। उनकी दृष्टि में जीव ग्रौर परमात्मा के बीच भ्रम, जिसे ग्रविद्या या माया कह सकते हैं, व्यवधान बना हुग्रा है।[5] उन्होंने संसार को 'सेमर के फूल' सा क्षणिक बताया है—

ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल।
दिन दस के व्यवहार में झूंठे रे मन भूल।।[6]

एक ग्रन्य स्थान पर कबीर ने संसार को एक हाट बताया है जिसमें जीव-रूपी व्यापारी कर्म-किराना बेचने के लिए ग्राता है। सही व्यापारी वह है जो समूचे कर्म-किराने को बेचकर घर वापिस जाता है ताकि उसे पुन. हाट न ग्राना पड़े।[7] यहीं कबीर ने योगीन्दु के समान पुण्य ग्रौर पाप दोनों को बंधनरूप माना है—

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूं मै ध्रमं।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखें भ्रमं।।[8]

मोह ग्रौर माया को भारतीय चिंतन के हर पुजारी ने समान रूप से बंधन का कारण माना है। योगीन्दु ने उसे मूढ़ के लक्षणों में प्रबलतम मानकर त्याग करने का उपदेश दिया है।

जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होइ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ।। प. प्र. 2 111।।

कबीर ने इसी मोह-माया को सारे संसार को नागपाश में बांधनेवाली, चांडालिनी, डोमिनी ग्रौर साँपिन ग्रादि कहा है। उसे छाया के समान भी माना है जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती। फिर भी जीव उसके पीछे दौड़ता है।[9] कबीर ने इस माया के विभिन्न रूप ग्रौर नाम बताये हैं ग्रौर उसे ग्रकथनीय कहा है—

माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फांस लिये कर डोले, बोले मधुरी वानी,
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कोड़ी कानी।।
भगतन के भगतिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहत कबीर सुनो हो संतो, यह सब ग्रकथ कहानी।।[10]

अध्यात्म-साधना का केन्द्र मन है। उसकी गति चूंकि तीव्रतम होती है इसलिये साधक को उसे वश में करना आवश्यक हो जाता है। मन की शिथिलता साधना को डगमगाने में मूल कारण बनती है। इसीलिए योगीन्दु ने मन को पंचेन्द्रियों का स्वामी बताया और चंचल मनरूपी हाथी को भेद-विज्ञान की भावनारूप अंकुश से वश में करने के लिए प्रेरित किया—

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहँ, अवसइँ सुक्कहिं पण्ण।। प. प्र. 2.140
मणु-इंदिहि वि छोडियइ बुहइ पुच्छिय ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ।। यो. सा. 54

जैन आचार्यों ने मन को प्रायः करभ की उपमा दी है जिसे विषयवेलि अधिक रुचिकर होती है।[11] कबीर ने भी मन को गयंद और मैमंता कहकर उसकी प्रचंड शक्ति की ओर संकेत किया है जो जीवों को पंचेन्द्रिय विषय-वासना में आसक्त कर लेता है। **मैमंता मन मारि रे, घटही माहें घेरि।**[12] उन्होंने अन्यत्र माया और मन के संबंध को अविच्छिन्न कहकर उसे सर्वत्र दुःख और पीड़ा का कारण कहा है।[13] माया मन को उसी प्रकार बिगाड़ देती है जिस प्रकार काँजी दूध को बिगाड़ देती है। मन से मन की साधना भी की जाती है। मन द्वारा मन को समझाने पर चरम सत्य की उपलब्धि हो जाती है। चंचल चित्त को निश्चल करने पर ही रामरसायन का पान किया जा सकता है। एक अन्य पद में कबीर इसीलिए मन को संबोधित करते हुए कहते हैं—हे मन! तू क्यों व्यर्थ भ्रमण करता-फिरता है? तू विषयानन्दों में संलिप्त है फिर भी तुझे संतोष नहीं। तृष्णाओं के पीछे बावला बना हुआ फिरता है। जहाँ भी पग बढ़ाता है उसे माया-मोह का बंधन जकड़ लेता है। आत्मारूपी स्वच्छ थाली को उसने पापों से कलुषित कर दिया है।[14]

जैन साधकों ने एक ओर जहाँ चित्तशुद्धि को मुक्ति का प्रमुख साधन माना है वहाँ बाह्याडम्बर को रहस्य-साधना में बाधक माना है। काम, क्रोधादि विकारों के कारण परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि इन विकारों के कारण व्यक्ति का अन्तर्मन बड़ा कलुषित रहता है। जैसे धूलभरे दर्पण में कोई रूप दिखाई नहीं देता वैसे ही रागादि से मलिन चित्त में शुद्ध आत्मस्वरूप के दर्शन नहीं हो पाते। पंचेन्द्रियों के विकारों से उसका मन व्याकुल बना रहता है। यह स्वभाविक भी है क्योंकि आत्मज्ञान और विषयवासना ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ कैसे रह सकते हैं—

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु।।
जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारी।
एक्कहिं केम समंति वढ़ बे खंडा पडियारि।। प. प्र. 1.120-21

कवि ने योगसार में भी सांसारिक जीवन के उस तथ्य को स्पष्ट किया है जिसमें व्यक्ति की आयु गलती चली जाती है पर उसकी आशा क्षीण नहीं होती इसलिए उन्होंने धर्म

को एक नये ढंग से परखने की कोशिश की है। उन्होंने कहा है कि पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता और न केश-लौंच करने से धर्म होता है। वास्तविक धर्म होता है निजात्मा में वास करने से, जहाँ राग और द्वेष पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं (यो. सा. 47–63)।

कबीर राम को परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए गंगा-स्नान आदि को व्यर्थ की मूढ़ता बताकर कहते हैं कि 'दादुर' तो सदैव गंगा में रहता है फिर भी उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[15] इसी प्रकार वे सिर मुँडवाकर साधु बनने का मजाक उड़ाते हुए कहते हैं कि भेड़ का मुँडन बार-बार होता है परंतु उसके स्वर्ग जानेवाली बात नहीं सुन पड़ी। ये सब व्यर्थ है इसलिए अपने विकारी मन को मूंडिये—

मूंड मुंडाये हरि मिलै तो मैं लेऊं मुंडाय।
बार-बार के मूँडते, भेड़ न बैकुंठ जाय॥
केसौं कहा बिगाड़िया, जे मुंडे सौ बार।
मन को काहे न मूंडिए, जामैं विषै विकार॥[16]

साधना के आंतरिक और बाह्य स्वरूपों में से कभी-कभी साधकों ने बाह्याडम्बरों की ओर विशेष ध्यान दिया। ऐसी स्थिति में ज्ञानाराधना की अपेक्षा क्रियाकांड अथवा कर्मकांड की लोकप्रियता अधिक हुई परन्तु वह साधना का वास्तविक स्वरूप नहीं था। जिन साधकों ने उसके वास्तविक स्वरूप को समझा उन्होंने मुँडन, तीर्थस्थान, यज्ञ, पूजा आदि बाह्य क्रियाकांडों का घनघोर विरोध किया। यह क्रियाकांड साधारणतः वैदिक संस्कृति का अंग बन चुका था। योगीन्दु ने ऐसे समय ज्ञान के बिना तीर्थस्थान को बिल्कुल निरर्थक बताया—

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढ़हं मोक्खु ण होइ॥
णाण विवज्जउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ। प. प्र. 2.85

मुनिरामसिंह ने भी उससे आभ्यन्तर मल धुलना असंभव माना है।[17] कबीर ने भी धार्मिक अंधविश्वासों, पाखंडों और बाह्याचारों के विरोध में तीक्ष्ण व्यंगयोक्तियां कसी हैं। कबीर का विचार है कि इनसे बाह्याचारों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो बनी रहती है परन्तु मन निर्विकार नहीं होता इसलिए हाथ की माला को त्याग कबीर ने मन को वश में करने का आग्रह किया है।

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए बाह्याडम्बरों का त्याग अभेद अथवा निश्चय नय की दृष्टि से ठीक है पर भेद अथवा व्यवहार नय की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। योगीन्दु ने निश्चय और व्यवहार नय की सीमा को परमात्मप्रकाश के मोक्षाधिकार में तरह-तरह की उपमाओं के माध्यम से स्पष्ट किया है (2.95-154)। आत्मा-परमात्मा और स्व-पर द्रव्य के विवेचन के संदर्भ में इस विषय को अधिक गंभीरता से लिया है। कबीर के भी समग्र साहित्य का अध्ययन करने पर अध्येता के लिए

यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं रहेगा कि कबीर व्यवहारवाद की अपेक्षा निश्चयवाद की ओर अधिक झुके हुए थे। बाह्याडम्बरों का विरोध भी उन्होंने इसी भावना से किया है।

साध्य की उपलब्धि के लिए सद्गुरु और सत्संग की प्राप्ति हर साधक ने परमावश्यक बतायी है। जैनसंतों ने गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक, शांति और आत्मशुद्धि करनेवाला माना है। योगीन्दु की दृष्टि में मिथ्यात्व, रागादि के बधंन से मुक्ति पाने और भेद-विज्ञान के अनुभव करने में गुरु की कृपा को अधिक महत्त्व दिया है। सद्गुरु के बिना वह कुतीर्थों में घूमता-फिरता रहता है—

ताम कुतित्थइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ।। यो. सा. 41

परमात्मप्रकाश में भी योगीन्दु ने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों को पंचगुरु कहकर प्रणाम किया है। उन्होंने उनकी परम्परागत विशेषताओं को नित्य, निरंजन, अनंतज्ञानस्वभावी, शिवमय, निर्मल, कर्मकलंकरहित, आप्त, वीतराग आदि विशेषणों से रूपायित किया है। परमात्मप्रकाश के प्रारंभिक आठ दोहों में सद्गुरु का ही महत्त्व बताया है। कबीर ने भी निर्गुण साधना में गुरु के महत्त्व को इससे कम नहीं आंका। उनकी दृष्टि में सद्गुरु का पाना अत्यन्त दुर्लभ है।[19] गुरु को कबीर ने भी ब्रह्म (गोविंद) से भी श्रेष्ठ माना है।[20] रागादि विकारों को दूर कर आत्मा ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरु की प्राप्ति हो जाती है।[21] गुरु की महिमा का गुणगान करते हुए उन्होंने लिखा है—

सद्गुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार।।
सब धरती कागद करौं, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करौ, तउ गुरु गुन लिखा न जाय।।[22]

नरभव की दुर्लभता, शरीर, गुरु आदि विषयों पर चिन्तन करने के साथ ही साधक अपने चेतन को आत्म-संबोधन से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। इससे असद्वृत्तियां मन्द हो जाती हैं और साध्य की ओर भी एकाग्रता बढ़ जाती है, साधक स्वयं आगे आता है और संसार के पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि पर सोचता है। योगीन्दु ने योगसार की रचना आत्म-सम्बोधन के लिए ही की थी।[23] परमात्मप्रकाश का अभिधेय प्रभाकर भट्ट को संबोधित करने के साथ-साथ आत्म-संबोधन भी रहा है।

अध्यात्म क्षेत्र से दार्शनिक क्षेत्र तक आते-आते आत्मा का अस्तित्व एक विवादग्रस्त विषय बन गया। वेदान्तसार, सूत्रकृतांग, दीघनिकाय आदि प्राचीन ग्रन्थों में इन विवादों के विविध उल्लेख मिलते हैं। वे सभी सिद्धान्त ऐकान्तिक हैं। उनमें कोई भी सिद्धान्त आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर निष्पक्ष रूप से विचार नहीं करता। जैनदर्शन ने निश्चय नय और व्यवहार नय के आधार पर इस विवाद को भी सुलझाकर तथ्य तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है।

योगीन्दु ने आत्मा की शुद्ध, बुद्ध, सचेतन, केवल ज्ञानस्वभावी आदि विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए रत्न, दीप, सूर्य, दही, घी, पाषाण, सोना, चांदी, स्फटिकमणि और अग्नि के दृष्टान्तों से उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। तथ्य को असाम्प्रदायिक बनाने की दृष्टि से उन्होंने आत्मा को ही शिव, शंकर, बुद्ध, रुद्र, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा, सिद्ध आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है।[24] वह निश्चय नय से शुद्ध, बुद्ध और निराकार है, पर व्यवहार नय से वह शरीरप्रमाण आकार ग्रहण करता है, कर्ता और भोक्ता है (प. प्र. 1.40,50-55)। जैनधर्म में परम्परा से ही आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। देह और आत्मा को एक माननेवाला बहिरात्मा है और उनको पृथक् माननेवाला अन्तरात्मा है जिसे पण्डित भी कहा गया है। परमात्मा आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे नित्य, निरंजन और परमविशुद्ध माना गया है (प. प्र. 1.13-17)। आत्मा न गौर वर्ण का है न कृष्ण वर्ण का, न सूक्ष्म है न स्थूल है, न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है और न शूद्र; न पुरुष है न स्त्री और न नपुंसक है, न तरुण, वृद्ध आदि। वह तो इन सभी सीमाओं से परे है। उसका वास्तविक स्वरूप तो शील, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप है—

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण खत्तिउण वि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥ 87 ॥
अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ।
अप्पा लिंगउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ 88 ॥
अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णमि भिच्चु ॥
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥ 89 ॥ प. प्र.

इन गाथाओं में प्रतिबिंबित भाव को कबीर की निम्न पंक्तियों में आसानी से देखा जा सकता है—

साधो, एक रूप सब मांहि।
अपने मनहिं विचार के देखो, और दूसरो नाहिं ॥
एकै, त्वचा, रुधिर पुनि एकै विप्र सुद्र के मांही ॥
कहीं नारि कहीं नर होइ बौले गैब पुरुष वह नाहीं ॥ कबीर ग्रन्थावली

कबीर ने जीव और ब्रह्म को पृथक् नहीं माना। वह तो अपने-आपको अविद्या के कारण ब्रह्म से पृथक् मानता है। अविद्या और माया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म अद्वैत हो जाते हैं—**सब घटि अतंरि तू ही व्यापक घटै सरूपै सोई।**[25] आत्मज्ञान शाश्वत सुख की प्राप्ति करनेवाला है जिसे भेदविज्ञान कहा जा सकता है। वह सर्वव्यापक है, अविनाशी है, निराकार और निरंजन है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा ज्योतिस्वरूप है।[26] इसे आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप कह सकते हैं। उसका व्यावहारिक स्वरूप माया अथवा अविद्या से आवृत स्थिति में दिखाई देता है। वही संसार में जन्म-मरण का कारण है। मिथ्यात्व और माया के नष्ट हो जाने पर आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु जथ कथौ गियानी।।
ज्यूं बिंब हिं प्रतिबिम्ब समाना, उदक कुम्भ विगराना।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, वहि जीव समाना।।[27]

अविद्या या भ्रम के नष्ट हो जाने पर आत्मा की निरंजनावस्था प्रकट हो जाती है। जैन-जैनेतर कवियों ने इसी अवस्था को परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सिद्ध सरहपाद और गौरखनाथ ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। अतएव यह कथन सही नहीं लगता कि निरंजन नामक कोई पृथक् सम्प्रदाय था[28] जिसका लगभग बारहवीं शताब्दी में उदय हुआ होगा।[29] डॉ. त्रिगुणायत ने निरंजन संप्रदाय का संस्थापक कबीरवंशी हरीदास को बताया है। यह भ्रममात्र है। निरंजन नामक न तो कोई सम्प्रदाय था और न उसका संस्थापक हरीदास अथवा निरंजन नामक कोई सहजिया बौद्ध सिद्ध ही था। हां, यह अवश्य है कि हरीदास (सं० 1512–95) नामक निरंजन संत ने डीडवाना (राजस्थान) क्षेत्र में इस दर्शन का प्रचार किया था। परन्तु इस शब्द का प्रयोग तो आत्मा की उस सर्वोच्च अवस्था के लिए आगमकाल से होता रहा है जिसमें माया अथवा अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है। योगीन्दु ने इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है (प. प्र. 1.17, 123)।

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु न सुण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ, निरंजणु तासु।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाण जिय, सो जि णिरंजणु जाणु।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु, सो जि णिरंजणु भाउ।। प. प्र. 1.19-21

अध्यात्म के क्षेत्र को प्रेम और भावना ने भी बहुत सिंचित किया है। आस्तिकता और सद्गुरु भक्ति से उसका महत्त्व किसी तरह कम नहीं आंका जा सकता। साहित्य के क्षेत्र में इसे भक्ति-प्रपत्ति कहा जाता है। प्रपत्ति का तात्पर्य है अपने इष्टदेव की शरण में जाना। साधक की भक्ति उसे इस प्रपत्ति की ओर ले जाती है। अनुकूल का संकल्प अथवा व्यवहार करना, प्रातिकूल्य का छोड़ना, भगवान् रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास होना, भगवद्गुणों का वर्णन, आत्मनिक्षेप और दीनता इन छः अंगों के माध्यम से भक्त अपने आराध्य की शरण में जाता है।[30] इन अंगों में 'भगवान् रक्षा करेंगे' जैसे अंग तो योगीन्दु में हैं ही नहीं, पर उन्होंने अपने ग्रन्थों में व्यवहारनय से भक्तितत्त्व को ओझल नहीं किया। **'जिणवर वंदउं भत्तियए'** कहकर उन्होंने प्रभाकर भट्ट को प्रारम्भिक सात गाथाओं में भक्ति का उपदेश दिया है और उसे परम्परया मोक्ष का कारण माना है (प. प्र. 2.61–72)। योगीन्दु का रहस्यवाद साधना-प्रधान था, पर कबीर ने साधना और भावना दोनों का समन्वितरूप साधा। इसके बावजूद उनकी साधना में सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी और कृष्णभक्त कवयित्री मीरा जैसी भावनात्मक तन्मयता नहीं थी। फिर भी कबीर के "हरि न मिले विन हिरदैं सूध," "हिरदैं

कपट हरि नहिं सोचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ," "अब मोही राम भरोसो तेरा, और कौन का करौं निहोरा", "निरमल राम गुण गावै, सौ भगतां मेरे मन भावै", "जो पै पतिव्रता है नारी, कैसे ही रहैसि पियहि प्यारी", "तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागिन कहे कबीरा" जैसे अनेक कवित्त प्रपत्त भावना की ओर संकेत करते हैं।

कविवर योगीन्दु सच्चे योग-साधक थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में योग की अच्छी चर्चा की है। ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में उसे और अधिक स्पष्ट किया है। हठयोग की परम्परा से योगीन्दु का योग विशेष प्रभावित नहीं दिखाई देता, फिर भी उन्होंने, धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मंडल, मुद्रा आदि को व्यवहार ध्यान का विषय बताया है वहीं उन्होंने पदस्थ को णमोकार मंत्र आदि का ध्यान, पिंडस्थ को आत्मा, रूपस्थ को अरहंत और रूपातीत को सिद्ध कहकर उनकी तुलना की है। ब्रह्मदेव ने दूसरे अध्याय की गाथा सं० 163 की टीका में पातंजलयोग को जैनयोग के साथ बैठाने का प्रयत्न भी किया है, परन्तु योगीन्दु का योग हठयोग नहीं था, उनका योग चित्त की चंचलता को वश में कर समभाव की ओर बढ़ना था और यही समभाव मोक्ष का साधक है। समदृष्टि, समभावी, आत्मज्ञानी, स्वयंवेदी आदि शब्द समानार्थक हैं जिनमें स्वात्मानुभव की चरम प्रकर्षता देखी जाती है।

कबीर की योगसाधना सहज साधना मानी जाती है "न मैं जोग चित्त लाया, विन वैराग न छूटसि काया", "संतो, सहज समाधि भली" आदि जैसे उद्धरणों से योग का मूल्यांकन किया है परन्तु उनका योग योगीन्दु के योग से भिन्न था। कबीर के योग पर हठयोग का भी प्रभाव रहा है। उन्होंने षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम और कुंडलिनी-उत्थापन की क्रियाओं का भी वर्णन किया है परन्तु हठयोग-साधना की अपेक्षा सहज-साधना, शब्द सुरति योग, अजपा जाप, अनहदनाद आदि की आराधना की है। "उल्टी चाल मिलै परब्रह्म कौ, सौ सतगुरु हमारा" के माध्यम से उन्होंने सहज-साधना की जिसे उन्होंने तलवार की धार पर चलने के समान कहा।[31] सहज-समाधि को ही उन्होंने सर्वोपरि माना—

सन्तो सहज समाधि भली।
सोई तें मिलन भयो जा दिन ते, सुर तन अंत चली॥
आंख न मूंदूं कान न रूंधूं, काया कष्ट न धारूं।
खुले नैंन मैं हंस-हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं॥
कहूं सु नाम सुनुं सौ सुमरिन, जो कुछ करूं सौ पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूं, और मिटाउं दूजा॥[32]

सहज-समाधि से साधक शुद्धात्मावस्था की ओर बढ़ता है और उसमें समरस होकर तज्जन्य अनुभूति का आनंद लेता है, उसे ही ब्रह्मानुभूतिजनित आनंद और चिदानंद चैतन्य रस अध्यात्म के क्षेत्र में, ब्रह्मानंदसहोदर साहित्य के क्षेत्र में कहा जाता है। इस अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति के लिए साधक को समरसता के महासमुद्र में अवगाहन करना पड़ता है। योगीन्दु ने इस अवगाहन को शिव और परमसुख माना है जो त्रैलोकसुख से भी अनुपम है,

इन्द्रादि सुखों से भी श्रेष्ठतर है। इसी सुख को अनंत सुख की संज्ञा दी गई है।[33] इसी के आगे दो प्रक्षेपक दोहों के माध्यम से योगीन्दु ने विकल्परूप मन और आत्मारामरूप परमेश्वर के एक हो जाने पर पूजा के प्रयोजन को ही निरर्थक कहा है और वैसी स्थिति में तंत्र-मंत्र-औषध आदि जैसे साधनों की उपयोगिता को अस्वीकार किया है—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ।।
जेण णिरंजणि धरिउ विसय-कसायहिं जंतु ।
मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ।। प. प्र. 1.123.2–3

जैनों के समान निर्गुणिया संत कबीर ने भी स्वानुभूति और समरसता को मूर्धन्य स्थान दिया है और उसी को पारमार्थिक सत्य और ब्रह्मज्ञान स्वीकार किया है। कबीर की आत्मदृष्टि जैनों का भेदविज्ञान है। तभी कबीर ने लिखा है—

पाणी ही तैं हिम भया, हिम है गया बिलाय ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहया न जाय ।।

इसी समरसता को प्राप्त करने के लिए कबीर ने अपने को राम की बहुरिया मानकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है और नमक तथा पानी के दृष्टांत से उसकी एकता को रूपायित किया है—

मेरा मन सुमरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आय ।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काय ।।[34]
मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं विलग ।
लूण बिलगा पाणिया, पाणि लूण विलग ।।[35]

कबीर की यह विचारधारा अध्यात्मरसिक योगीन्दु की निम्न गाथा से प्रभावित दिखाई देती है जिसमें उन्होंने स्वयं और परमात्मा के बीच ऐक्य स्थापित किया है—

जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइया, अण्णु म करहु वियप्पु ।। यो. सा. 22

इस प्रकार अध्यात्मरसिक योगीन्दु और कबीर की अन्तःसाधना कालखंड की इतनी दूरी होने के बावजूद एक ही महापथ पर समानांतररूप से चलती हुई दिखाई देती है। यद्यपि दोनों साधक भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के पुजारी रहे तथापि उनकी विचारधारा में इतनी अधिक समानता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि अध्यात्म के क्षेत्र में स्वानुभूति और समरसता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अन्तर होता है अभिव्यक्ति का, जो गूंगे के गुड़ के समान अनिर्वचनीय है।

1. योगसार, 3 । परमात्मप्रकाश, 12–13 ।
2. परमात्मप्रकाश, 2.101 । योगसार, 58 ।
3. अभिधान चिन्तामणि कोश, 741–2 ।
4. रहस्यमन्तराष, धवला, 1.1.1.1.44 ।
5. कबीर ग्रंथावली, पृ. 178 ।
6. कबीर साखी संग्रह, पृ. 61 ।
7. कबीर ग्रंथावली, पृ. 26 ।
8. वही, पृ. 38 ।
9. माया छाया एक सी विरला जाने कोय ।
आसा के पीछे फिरे सनमुख भागै सोय ।। संत वाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 57 ।
10. कबीर–डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पद्य 134, पृ. 311 । अन्यत्र—'अवधू ऐसा ज्ञान विचारी', कहकर माया के स्वरूप को स्पष्ट किया है, कबीर ग्रंथावली, पृ. 427, पद 231, तुलनार्थ देखिए आनंदघन बहोत्तरी, पद, 98 ।
11. मनकरहारास, भगवतीदास, 1 । पाहुड दोहा 92, 111, 155 ।
12. कबीर ग्रंथावली सटीक, पृ. 147 ।
13. कबीरवाणी, पृ. 67, कबीर ग्रंथावली, पृ. 146 ।
14. काहै रे मन दह दिसिंधावै, विषिया संगि संतोष न पावै ।
जहाँ-जहाँ कलपे तहाँ तहाँ बंधनो, रतन को थाल कियो ते रंधना ।।
कबीर ग्रंथावली, पद 87, पृ. 343.
15. क्या है तेरे न्हाई धोई, आतमराम न चीन्हा सोई ।
क्या घर ऊपर मंजन कीयै, भीतरी मैल अपारा ।।
राम नाम बिन नरक न छूटै, जो धोबै सौ बारा ।
ज्यूं दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ।। 158 ।। —कबीर ग्रंथावली पृ. 322.
16. कबीर ग्रंथावली, पृ. 221 ।
17. पाहुडदोहा, 159 ।
18. माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका छांडिदे, मन का मनका फेर ।। कबीर ग्रंथावली, 45.
19. ऐसा कोई नां मिलै, सब विधि देइ बताइ ।
सुनि मडंल मैं पुरिषएक, ताकि रहै ल्यौ लाइ ।। 7 ।। कबीर ग्रंथावली सटीक, पृ. 242-244.
20. गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु आपकी, जिन्ह गोविंद दियो बताय ।। संतवाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 2.
21. कबीर ग्रंथावली, पृ. 1 ।
22. वही, पृ. 1–3 ।

23. संसारह भय-भीयएण, जोगिचन्द-मुणिएण ।
अप्पा-संबोहण कया, दोहा इक्कमणेण ।। योगसार, 108
24. योगसार, 26, 57, 105 ।
25. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 105 ।
26. कबीर ग्रन्थावली, पृ. क्रमश: 89, 56, 323, 227, 73 ।
27. वही, परचा कौ अंग, पृ. 111 ।
28. कबीर—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 52.3 ।
29. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. 354 ।
30. पांचरात्र, लक्ष्मीसंहिता, साधनांक, पृ. 60 ।
31. सहज-सहज सब कोऊ कहे, सहज न चीन्है कोय ।
जो सहजै साहब मिलै सहज कहावै सोय ।।—संत साहित्य, पृ. 222.3
32. कबीरवाणी, पृ. 262 ।
33. जं सिव-दंसणि परम-सुहुं पावहि झाणु करन्तु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणन्तु ।। प. प्र. 1.116 ।
जं मुणि लहइ अणन्त-सुहु णिय-अप्पा झायन्तु ।
तं सुहु इन्दु वि णवि लहइ देविहिं कोडिरमन्तु ।। 117 ।।
34. कबीर ग्रंथावली, पृ. 110 ।
35. वही, पृ. 136 ।

आत्मज्ञान से ही मुक्ति

धंधइ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ।। 52 ।।
आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।
मोह फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ।। 49 ।।
जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिमु जइ अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ।। 50 ।।

अर्थ—सारा जगत् लौकिक धन्धों (कार्यों) में पड़ा हुआ है, कोई अपनी आत्मा को नहीं पहचानते । निश्चित ही इसी कारण ये जीव निर्वाण को नहीं पाते ।

आयु गल जाती है पर मन नहीं गलता और न ही आशा गलती है । मोह स्फुरित होता है परन्तु आत्महित का स्फुरण नहीं होता, इस प्रकार जीव संसार में भ्रमण करता रहता है ।

योगी कहते हैं—जिस प्रकार मन विषयों में रमता है उस प्रकार यदि आत्मा को जानने में रमे तो हे योगीजनो ! जीव शीघ्र ही निर्वाण को पा जाय ।

योगसार

जोइन्दु और अमृताशीति

—श्री सुदीपकुमार जैन

□

कवि जोइन्दु को आधुनिक प्रख्यात इतिहासवेत्ताओं व मनीषियों ने छठी शताब्दी ईस्वी के आध्यात्मिक क्रान्तद्रष्टा-महापुरुष व अपभ्रंश के महाकवि के रूप में स्वीकार किया है। इनकी बहुश्रुत व सुनिर्णीत कृतियों—परमातमप्रकाश (परमप्पयासु) व योगसार (जोगसारु) के आधार पर ये दोनों धारणाएं 1. ये छठी शताब्दी ईस्वी के हैं तथा 2. ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि हैं, सुनिश्चित की गयी हैं परन्तु उनकी मुझे प्रामाणिकरूप से प्राप्त अन्य दो कृतियों ने इन दोनों धारणाओं पर प्रश्नचिह्न अंकित कर दिया है। ये दोनों कृतियां हैं—1. निजात्माष्टक और 2. अमृताशीति।

'निजात्माष्टक' प्राकृतभाषाबद्ध रचना है और 'अमृताशीति' संस्कृत भाषा में रचित है। इस तथ्य पर नजर डालने के बाद जोइन्दु अकेली अपभ्रंश भाषा के ही महाकवि नहीं रह जाते, अपितु वे तत्कालीन बहुभाषाविद् के रूप में स्थापित होते हैं।

दूसरा प्रश्न है—कालसम्बन्धी। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने विविध उपलब्ध साक्ष्यों की समीक्षापूर्वक जोइन्दु के साहित्य पर आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शताब्दी ईस्वी) तथा आचार्य पूज्यपाद (पांचवीं शताब्दी ईस्वी) की रचनाओं का प्रभाव देखते हुए उनका काल ईसा की छठी शताब्दी निर्धारित किया है।[1] आचार्य जोइन्दु ने 'अमृताशीति' नामक ग्रन्थ में भट्टाकलंकदेव[2] तथा आचार्य विद्यानन्दि[3] का नामोल्लेख करते हुए उनके ग्रंथों के उद्धरण दिये हैं। चूंकि भट्टाकलंकदेव का तथा आचार्य विद्यानन्दि का समय छठी शताब्दी ईस्वी के बाद का

ही विद्वानों ने निर्धारित किया है अतः यह बात सुनिश्चित है कि जोइन्दु छठी शताब्दी ईस्वी के न होकर इसके परवर्ती हैं। भट्टाकलंकदेव का काल 640-680 ईस्वी[4] तथा आचार्य विद्यानन्दि का काल 775-840 ईस्वी[5] माना गया है। अतः जोइन्दु के काल के विषय में पुनर्विचार की महती आवश्यकता है।

उक्त 'अमृताशीति' ग्रंथ जोइन्दु का ही है, इस बारे में कई प्रमाण प्राप्त होते हैं। वैसे तो डॉ. ए. एन. उपाध्ये प्रभृति कई विद्वानों ने इसे जोइन्दु का ग्रंथ स्वीकार किया है परन्तु इन्हें यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका था।[6] फिर भी कई प्राचीन व ऐतिहासिक उल्लेख इस ग्रंथ को जोइन्दु-प्रणीत प्रमाणित करते हैं जो कि निम्नानुसार हैं—

1. आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत 'नियमसार' नामक ग्रंथ के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव (1140-1185 ईस्वी) ने अपनी 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका में[7] अमृताशीति के 19वें, 55वें, 56वें, 57वें तथा 61वें छन्दों को जो कि क्रमशः गाथा क्रमांक 104वीं, 43वीं, 180वीं, 124वीं व 147वीं की टीका में उद्धृत किये गये हैं, "तथा चोक्तममृताशीतौ" एवं "तथा चोक्तं योगीन्द्र देवैः" कहकर उद्धृत किया है।

2. जोइन्दु के चारों ग्रंथों (परमात्मप्रकाश, योगसार, निजात्माष्टक और अमृताशीति) के सर्वमान्य टीकाकार मुनि बालचन्द (ई. 1350) जो कि सिद्धान्त चक्रवर्ती नयकीर्तिदेव के शिष्य थे, ने इन चारों ग्रंथों की टीकाओं के प्रारंभ में एक ही पंक्ति दी है—

"श्री योगीन्दुदेवरु प्रभाकरभट्टप्रतिबोधनार्थम्....अभिधानग्रन्थमं माडुत्तमदादियोल् इष्टदेवतानस्कारमं माडिदयरु[8]...............

इससे सिद्ध है कि 14वीं शताब्दी तक यह ग्रन्थ जोइन्दु के द्वारा विरचित सर्वमान्य था और ये वही जोइन्दु थे जिन्होंने परमात्मप्रकाश ग्रंथ की रचना प्रभाकरभट्ट नामक शिष्य के अनुरोध पर की थी।

3. 'अमृताशीति' के अन्त में उन्होंने अपना नामोल्लेख भी किया है।

चंचच्चंद्रोरुरोचि रुचिरतरवचः क्षीरनीर प्रवाहे ।
मज्जंतोऽपि प्रमोदं परममरनराः संज्ञिनोऽगुर्यदीये ।।
योगज्वालायमान ज्वलदनलशिखा क्लेशवल्ली विहोता ।
योगीन्द्रो वः सश्चंद्रप्रभविभुर्विभुर्मगलं सर्वकालम् ।। 80 ।।

अमृताशीति के बारे में अन्य विप्रतिपत्तियां

(क) डॉ. हीरालाल जैन ने 'परमात्मप्रकाश' की प्रस्तावना[9] में इसे अपभ्रंश भाषा का ग्रंथ कहा है जबकि मुझे प्राप्त इसकी एकमात्र प्रमाणित कन्नड़ ताडपत्रीय प्रति इसे विशुद्ध संस्कृतभाषामय ग्रंथ बताती है तथा 'नियमसार' की टीका में उद्धृत पांचों छंद भी संस्कृत के ही

हैं, फिर डॉ. हीरालालजी ने इसे अपभ्रंश भाषा का ग्रंथ किस आधार पर घोषित किया है ? यह अज्ञात है ।

(ख) डॉ. हीरालालजी ने इसे 82 छन्दों का ग्रंथ[10] बताया है जबकि मुझे प्राप्त इस ग्रंथ की एकमात्र पाण्डुलिपि में 80 ही छंद हैं । डॉ. हीरालालजी को इस ग्रंथ की कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई थी, फिर पता नहीं उन्होंने किस आधार पर इसे 82 छन्दों के परिमाणवाला कहा ।

(ग) प्रेमीजी इसे 'अध्यात्मसंदोह' के अपरनामवाला ग्रंथ[11] मानते हैं जो कि निराधार मन्तव्य है । इस प्रकार का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है ।

(घ) जैनेन्द्रसिद्धान्त कोशकार ने इसे (अध्यात्मसंदोह को) प्राकृतभाषामय ग्रंथ कहा है[12] परन्तु उन्होंने भी इसके बारे में कोई निश्चित वजह नहीं बतायी है ।

(ङ) 'अमृताशीति' को जैनेन्द्रसिद्धान्त कोशकार अपभ्रंश भाषा का ग्रंथ मानते हैं,[13] परन्तु क्यों ? किस आधार पर ? यह प्रश्न वहाँ भी अनुत्तरित है ।

विषयगत वैशिष्ट्य

'अमृताशीति' का विषयगत अध्ययन भी अत्यन्त रोचक व महत्त्वपूर्ण रहा है । इसमें कई तथ्य ऐसे प्राप्त होते हैं जो कि 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' की मान्यताओं से हटकर नवीन प्रमेयों का प्रतिपादन करते हैं, जैसे कि—

(अ) 'पुण्य' का महत्त्व स्वीकारना

'अमृताशीति' में जोइन्दु ने पुण्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए पुण्यात्मा होना आत्महित या धर्मलाभ के लिए आवश्यक बताया है,[14] उदाहरणार्थ—

> **भ्रात ! प्रभातसमये त्वरित किमर्थ-मथयि चेत् स च सुखाय ततः स सार्थः ।**
> **यद्येवमाशुकुरु पुण्यमतोऽर्थसिद्धिःपुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ।।2।।**
> **धर्मादयो हि हितहेतुतयाप्रसिद्धाः धर्माहनं धनत ईहित वस्तुसिद्धिः ।**
> **बुद्धवेति मुग्ध हितकारी विदेहि पुण्यं पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ।।3।।**

इस प्रकार अन्य गाथाओं में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है । यद्यपि इसमें कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है, फिर भी यह कथन परमात्मप्रकाश के प्रतिपादन से सर्वथा भिन्न है जिसमें वे पुण्य को पाप के समान हेय व तुच्छ गिनाते हैं ।[15]

(ब) समता का महत्त्व

वैसे तो सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में समता या साम्यभाव का बड़ा ही महत्त्व प्रतिपादित किया गया है परन्तु 'परमात्मप्रकाश' या 'योगसार' में समता शब्द या इसके वाच्य को इतना

महिमामंडित कहीं नहीं किया गया जितना कि 'अमृताशीति' के 14वें से 25वें छन्द तक प्राप्त होता है। यथा—

मुक्त्वाऽलसत्त्वमधि सत्त्वबलोपपन्नः स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम् ।
सज्ञानचक्रमिदमंगप्रहाणतूर्ण-मज्ञानमंत्रिपुतमोहरिपूप मर्दि ।। 19 ।।
कालत्रयेऽपि भुवनत्रयं वर्तमानं सत्त्वप्रमाथिमदनादि महारयोऽमि ।
पश्याशनाशमुपयान्ति दृशैव यस्याः सा सम्मतमनुसतां समतैव देवी ।। 21 ।।

इस प्रकार ग्रंथकार 'समता' को कुलदेवता (छंद 19), देवी (छंद 21), शरणस्थली[16], मैत्र्यादि की सखी[17] आदि अनेकों विशेषणों से छायावाद जैसी शैली में संबोधित करते हैं।

(स) गुरु का महत्त्व

जैसे परवर्ती हिन्दी रहस्यवादी साहित्य में कबीर आदि संतों ने गुरु के रूप को अत्यन्त गौरव प्रदान किया है उसी प्रकार 'अमृताशीति' में भी कई स्थलों पर, जैसे—

आराध्यधीरचरणौ सततं गुरुणां
लब्धवा ततः दशममार्गं वरोपदेशम् ।
तस्मिन् विदेहि मनसस्थिरतां प्रयत्ना-
च्छोषं प्रयाति तव येन भवापगेयम् ।। 27 ।।

गुरु की अपार महिमा व अनिवार्यता प्रदर्शित की गई है। यह वर्णन आत्महित में देव-शास्त्र-गुरु के निमित्तरूप प्रतिपादित सामान्य महत्त्व से हटकर भिन्न शैली में प्रस्तुत किया गया है।

(द) हठयोग शब्दावली

हठयोग व योगशास्त्रीय शब्दों का किंचित् प्रयोग यद्यपि 'योगसार' (दोहा–98) में भी आया है, परन्तु 'अमृताशीति' में प्रचुरमात्रा में इस शब्दावली का प्रयोग है। कई शब्द तो ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग जोइन्दु ने 'योगसार' में भी नहीं किया है। यथा–स्वहंसहरिविष्टर, अर्हत्-हिमांशु, र्हं मंत्रसार, द्वैकाक्षरं पिण्डरूप, अनाहत ध्वनति, बिन्दुदेव योगनिद्रा, नालिद्वार, हृदयकमलगर्भ, श्रवणयुगल मूलाकाश तथा सद्द्वारसार[18] आदि।

इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने जैन रहस्यवादी या आध्यात्मिक अर्थों व ध्यान की प्रक्रिया के संदर्भों में किया है। इसमें कुछ छंद तो ऐसे हैं जो कि विशुद्ध योगशास्त्रीय व रहस्यवादी धारा का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।[19] जैसे—

भ्रमरसदृशंकेशं मस्तकं दूरदृष्टि-
र्वपुरजरमरोगं मूलनादप्रसिद्धेः ।

अणुलघुमहिमाद्यः सिद्धयः स्युर्द्वितीयात् ।
सुरनरखेचरेषां सम्पदश्चान्य-भेदात् ।। 48 ।।

ब्रह्माण्डं यस्यमध्ये महादपि सदृशं दृश्यते रेणुनेदम् ।
तस्मिन्नाकाशरंध्रे निरवधिनि मनो दूरमायोज्यसम्यक् ।।
तेजोराशौ परेऽस्मिन् परिहृत सदसद्वृत्तितो लब्धलक्षः ।
हे दक्षाध्यक्षरूपे ! भव भवसि भवाम्बोधि पाराऽवलोकी ।। 73 ।।

डॉ. नेमिचंद्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य स्वीकारते हैं कि जैन रहस्यवाद का निरूपण रहस्यवाद के रूप में सर्वप्रथम इन्हीं (जोइन्दु) से आरंभ होता है। यों तो कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्य की रचनाओं में भी रहस्यवाद के तत्त्व विद्यमान हैं पर परमार्थतः रहस्यवाद का रूप जोइन्दु की रचनाओं में ही प्राप्त होता है। ....इस प्रकार जोइन्दु........ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने क्रांतिकारी विचारों के साथ आत्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्ष का मार्ग बतलाया है ।[20]

इस प्रकार सबका निष्कर्ष निम्न प्रकार है—

1. योगीन्द्र या जोइंदु 6ठी शताब्दी के कवि नहीं हैं। अकलंक व विद्यानन्दि का उल्लेख करने से इन्हें आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व नवमी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का कवि होना चाहिए ।

2. जोइंदु की संस्कृत भाषामयी 'अमृताशीति' व प्राकृत भाषामयी 'निजात्माष्टक' कृतियों के प्रमाणिकरूप से मिल जाने के बाद अपभ्रंश के साथ-साथ प्राकृत और संस्कृत पर भी आपका समान अधिकार सिद्ध होता है ।

3. सिद्धान्तचक्रवर्ती नयकीर्तिदेव के शिष्य व अनेक ग्रंथों के विश्रुत कन्नड़ टीकाकार मुनि बालचन्द्र के आधार पर 'अमृताशीति' व 'निजात्माष्टक'–इन दोनों ग्रंथों को हम 'परमात्मप्रकाश' व 'योगसार' के समान ही जोइंदु की प्रामाणिक कृतियां मान सकते हैं ।

---

1. श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास (गुजरात) से प्रकाशित परमात्मप्रकाश-योगसार की भूमिका, डॉ. ए. एन. उपाध्ये ।
2. छन्द क्रमांक 59 ।
3. छन्द क्रमांक 68 ।
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृष्ठ 31 ।
5. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 554 ।
6. परमात्मप्रकाश–योगसार की डॉ. उपाध्ये की प्रस्तावना ।
7. क्रमशः पृ. सं. 202, 92, 361, 251, तथा पृ. 257वें पर हैं ।
8. अमृताशीति की मुनि बालचन्द्रकृत कन्नड़ टीका की उत्थानिका ।

9. परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 116 (जै. सि. कोश भाग 1 के पृ. 137 पर उद्धृत) ।
10. वहीं पर ।
11. जैन सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृ. 54 ।
12. वहीं पर ।
13. जैन सिद्धांत कोश, भाग 3, पृ. 401 ।
14. अमृताशीति, मूल, छन्द 2 से 9 वें तक ।
15. परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, गाथा (छन्द) 55वां तथा योगसार गाथा 71वीं ।
16. वही, छन्द 22 ।
17. वही, छन्द 25 ।
18. अमृताशीति, छन्द 29 से 45 ।
19. वही, छन्द 46वां, 48वां, 73वां ।
20. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 2, पृष्ठ 253-254 पर ।

हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण सूत्र-विवेचन

—डॉ० कमलचन्द सोगाणी

□

हेमचन्द्र की अपभ्रंश व्याकरण के अनुसार 7 और 8 अंकों में संज्ञा व सर्वनाम के सूत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 8वें अंक में संज्ञा व सर्वनामों के रूप जो सूत्रों से फलित होते हैं, दिये गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अपभ्रंश साहित्य में प्राकृत के रूपों का प्रयोग शताब्दियों तक किया जाता रहा है। अपभ्रंश साहित्य को समझने के लिए प्राकृत के रूपों का ज्ञान आवश्यक है। अतः प्राकृत के संज्ञा-सूत्रों का विवेचन इस अंक में प्रस्तुत किया जा रहा है। संज्ञा-रूप भी इस अंक में दिये गये हैं। अगले अंक में सर्वनाम के सूत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

सूत्र-विवेचन

1. **अतः से र्डोः** 3/2

अतः से र्डोः [(सेः) + (डोः)]

अतः (अत्) 5/1 **सेः** (सि) 6/1 **डोः** (डो) 1/1

(प्राकृत में) **अत्** से परे सि के स्थान पर डो→**ओ** (होता है)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे सि (प्रथमा एक वचन के प्रत्यय) के स्थान पर **ओ** होता है।

देव (पु.) — (देव + सि) = (देव + ओ) = **देवो** (प्रथमा एकवचन)

2. जस्-शसोर्लुक् 3/4

जस्-शसोर्लुक् [(शसोः) + (लुक्)]
[(जस्)-(शस्) 6/2] **लुक्** (लुक्) 1/1
(प्राकृत में) **जस्** और **शस्** के स्थान पर लोप (होता है)।
अकारान्त पुल्लिग शब्दां में **जस्** (प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय) तथा **शस्** (द्वितीया बहुवचन के प्रत्यय) के स्थान पर लोप→ ० होता है।
देव (पु.)—(देव+जस्) = (देव+०)
(देव+शस्) = (देव+०)

3. अमोऽस्य 3/5

अमोऽस्य [(अमः) + अस्य)]
अमः (अम्) 6/1 **अस्य** (अ) 6/1
(प्राकृत में) अम् के **अ** का (लोप होता है)। (और 'म्' शेष रहता है)।
मोनुस्वारः 1/23[(मः) + (अनुस्वारः)] **मः** (म्) 6/1
अनुस्वारः (अनुस्वारः) 1/1 **'म्'** का अनुस्वारः (ं) (होता है)।
अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **अम्** (द्वितीया एकवचन के प्रत्यय) के **'अ'** का लोप हो जाता है और बचे हुए **'म्'** का अनुस्वार (ं) हो जाता है।
देव (पु)—(देव+अम्) = (देव+म्) = (देव+ ं) = **देवं** (द्वितीया एकवचन)

4. टा-आमो र्णः 3/6

टा-आमो र्णः [(आमोः) + (णः)]
[(टा)-(आम्) 6/2] **णः** (ण) 1/1
(प्राकृत में) **टा** और **आम्** के स्थान पर **ण** (होता है)
अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **टा** (तृतीया एकवचन के प्रत्यय) और **आम्** (षष्ठी बहुवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **ण** हो जाता है।
देव (पु.)—(देव+टा) = (देव+ण)
(देव+आम्) = (देव+ण)

5. भिसो हि हिँ हिं 3/7

भिसो हि हिँ हिं [(भिसः) + (हि) (हिँ) (हिं)]
भिसः (भिस्) 6/1 हि (हि) 1/1 हिँ (हिँ) 1/1 हिं(हिं) 1/1
(प्राकृत में) **भिस्** के स्थान पर **हि, हिँ** और **हिं**(होते हैं)।
अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **भिस्** (तृतीया बहुवचन के प्रत्यय) के स्थान पर हि, हिँ और हिं होते हैं।
देव (पु.)—(देव+भिस्) = (देव+हि, हिँ, हिं)

6. **ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः** 3/8

ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः [(ङसेः) + (त्तो)-(दो)-(दु)-(हि)-(हिन्तो)-(लुकः)]

ङसेः (ङसि) 6/1 [(त्तो)-(दो)-(दु)-(हि)-(हिन्तो)-(लुक) 1/3]

(प्राकृत में) **ङसि** के स्थान पर **त्तो**, दो→**ओ**, दु→**उ**, **हि**, **हिन्तो** और **लोप** (होते हैं)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **ङसि** (पंचमी एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर त्तो, ओ, उ, हि, हिन्तो और ० होते हैं।

देव (पु.)—(देव+ङसि) = (देव+त्तो, ओ, उ, हि, हिन्तो और ०) होते हैं।

7. **भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो** 3/9

भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो [(भ्यसः) + (त्तो)] **दो दु हि हिन्तो सुन्तो**

भ्यसः (भ्यस्) 6/1 **त्तो** (त्तो) 1/1, **दो** (दो) 1/1 **दु** (दु) 1/1 **हि** (हि) 1/1 **हिन्तो** (हिन्तो) 1/1 **सुन्तो** (सुन्तो) 1/1

(प्राकृत में) **भ्यस्** के स्थान पर **त्तो**, दो→**ओ**, दु→उ, हि, **हिन्तो** और **सुन्तो** (होते हैं)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **त्तो**, **ओ**, उ, हि, **हिन्तो** और **सुन्तो** होते हैं।

देव (पु.)—(देव+भ्यस्) = (देव+त्तो, ओ, उ, हि, हिन्तो, सुन्तो)

8. **ङसः स्सः** 3/10

ङसः (ङस्) 6/1 **स्सः** (स्स) 1/1

(प्राकृत में) **ङस्** के स्थान पर **स्स** (होता है)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **ङस्** (षष्ठी एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **स्स** होता है।

देव (पु.)—(देव+ङस्) = (देव+स्स) = **देवस्स** (षष्ठी एकवचन)

9. **डे म्मि ङेः** 3/11

डे म्मि ङेः (ङि) 6/1

(प्राकृत में) **ङि** के स्थान पर डे→**ए** और **म्मि** (होते हैं)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **ङि** (सप्तमी एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **ए** और **म्मि** होते हैं।

देव (पु.)—(देव+ङि) = (देव+ए, म्मि) = **देवे**, **देवम्मि** (सप्तमी एकवचन)

10 **जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः** 3/12

जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-[(दु) + (आमि)] दीर्घः

जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-दु-ग्रामि (ग्राम्) 7/1 **दीर्घः** (दीर्घ) 1/1
(प्राकृत में) **जस् शस्**, **ङसि** परे होने पर, तथा
(पंचमी बहुवचन के प्रत्ययों में से) **त्तो**, दो → **ग्रो**, दु → **उ** परे होने पर तथा **ग्राम्**
परे होने पर **दीर्घ** (हो जाता है) ।
ग्रकारान्त पुंल्लिग शब्दों में **जस्** (प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय), **शस्** (द्वितीया बहुवचन के प्रत्यय) **ङसि** (पंचमी एकवचन के प्रत्यय) परे होने पर तथा (पंचमी एकवचन के प्रत्ययों में से) **त्तो**, **ग्रो**, उ परे होने पर तथा **ग्राम्** (षष्ठी बहुवचन के प्रत्यय) परे होने पर **दीर्घ** हो जाता है ।

देव (पु.)—(देव + जस्), **जस्** = ० 3/4
(देव + जस्) = (देव + ०) = **देवा** (प्रथमा बहुवचन)
(देव + शस्), **शस्** = ० 3/4
(देव + शस्) = (देव + ०) = **देवा** (द्वितीया बहुवचन)
(देव + ङसि), **ङसि** = त्तो, ग्रो, उ, हि, हिन्तो, ० 3/8
(देव + ङसि) = (देव + त्तो) = देवात्तो → **दवत्तो** (पंचमी एकवचन)

(दीर्घ स्वर के ग्रागे यदि संयुक्त ग्रक्षर हो तो दीर्घ स्वर का ह्रस्व स्वर हो जाता है ।
(ह्रस्वः संयोगे 1/84) ।)
(देव + ङसि) = (देव + ग्रो) = **देवाग्रो** (पंचमी एकवचन)
इसी प्रकार **देवाउ, देवाहि, देवाहिन्तो, देवा** (पंचमी एकवचन)
(देव + त्तो, दो, दु) = [(देव + ग्रांशिक भ्यस्)] ग्रांशिक भ्यस् = **त्तो**, दो → **ग्रो**,
दु → **उ** 3/12
(देव + ग्रांशिक भ्यस्) = (देव + त्तो) = देवात्तो → **देवत्तो** (1/84)
(पंचमी बहुवचन)
इसी प्रकार **देवाग्रो, देवाउ** (पंचमी बहुवचन)
(देव + ग्राम्), **ग्राम्** = ण 3/6
(देव + ग्राम्) = (देव + ण) (देवा + ण) = **देवाण** (षष्ठी बहुवचन)

11. **भ्यसि वा** 3/13

भ्यसि (भ्यस्) 7/1 **वा** = विकल्प से
(प्राकृत में) **भ्यस्** परे होने पर **विकल्प से** (दीर्घ होता है) ।
ग्रकारान्त पुंल्लिग शब्दों में (बचा हुग्रा) **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन के प्रत्यय) परे होने पर **विकल्प से** दीर्घ हो जाता है ।
देव (पु.)—(देव + [बचा हुग्रा] भ्यस्) = (देव + हि, हिन्तो, सुन्तो) = **देवाहि, देवाहिन्तो, देवासुन्तो** (पंचमी बहुवचन)

12. **टाण-शस्येत्** 3/14

टाण-शस्येत् [(शसि) + (एत्)]
टाण-शसि (शस्) 7/1 **एत्** (एत्) 1/1

(प्राकृत में) **टा** के स्थान पर **ण** होने पर तथा **शस्** परे होने पर अन्त्य स्वर एत् **ए** (होता है)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **टा** (तृतीया एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **ण** होने पर तथा **शस्** (द्वितीया बहुवचन के प्रत्यय) परे होने पर अन्त्य स्वर **ए** होता है।

देव (पु.)—(देव+टा) = (देव+ण) = (देवे+ण) = **देवेण** (तृतीया एकवचन

(देव+शस्) **शस्** = ० 3/4

(देव+शस्) = (देव+०) (देवे+०) = **देवे** (द्वितीया बहुवचन)

13. भिस्भ्यस्सुपि 3/15

भिस्भ्यस्सुपि [(भिस्)+(भ्यस्)+(सुपि)]

[(भिस्)-(भ्यस्)-सुपि (सुप्) 7/1]

(प्राकृत में) **भिस्, भ्यस्** और **सुप्** परे होने पर **ए** (हो जाता है)।

अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **भिस्** (तृतीया बहुवचन के प्रत्यय) **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन के प्रत्यय (तथा **सुप्** (सप्तमी बहुवचन के प्रत्यय) परे होने पर ए हो जाता है।

देव (पु)—(देव+भिस्), **भिस्** = हि, हिँ, हिं 3/7

(देव+भिस्) = (देव+हि, हिँ, हिं) = (देवे+हि, हिँ, हिं)

= **देवेहि**, देवेहिँ, देवेहिं (तृतीया बहुवचन)

(देव+भ्यस्), **भ्यस्** = हि, हिन्तो, सुन्तो 3/13

(देव+भ्यस्) = (देव+हि, हिन्तो, सुन्तो) = (देवे+हि, हिन्तो, सुन्तो)

= **देवेहि, देवेहिन्तो, देवेसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)

(देव+सुप्), सुप्→ सु

(देव+सुप्) = (देव+सु) = (देवे+सु) = **देवेसु** (सप्तमी बहुवचन)

14. इदुतो दीर्घः 3/16

इदुतो दीर्घः [(इत्)+(उतः)]

[(इत्)-(उत्) 6/1] **दीर्घः** (दीर्घ) 1/1

(प्राकृत में) (पु., स्त्री, नपु।) (शब्दों में) (भिस्, भ्यस् और सुप् परे होने पर) ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त के स्थान पर **दीर्घ** (हो जाता है)।

ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त पुल्लिग, नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों में **भिस्** (तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) और सुप् (सप्तमी बहुवचन का प्रत्यय) परे होने पर ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। (और दीर्घ दीर्घ ही रहता है)।

हरि (पु.)—(हरि+भिस्), भिस् = हि, हिं, हिं (3/7),(3/124)

(हरि+भिस्) = (हरि+हि, हिँ, हिं)

= **हरीहि, हरीहिँ, हरीहिं** (तृतीया बहुवचन)

वारि (नपुं)—**वारीहि, वारीहिँ, वारीहिं** (तृतीया बहुवचन)
मइ (स्त्री— **मईहि, मईहिँ, मईहिं** (तृतीया बहुवचन)
साहु (पु.)—(साहु+भिस्) = (साहु+हि, हिँ, हिं)
= **साहूहि, साहूहिँ, साहूहिं** (तृतीया बहुवचन)
महु (नपुं)—**महूहि, महूहिँ, महूहिं** (तृतीया बहुवचन)
धेणु (स्त्री)—**धेणूहि, धेणूहिँ, धेणूहिं** (तृतीया बहुवचन)
हरि (पु.)—(हरि+भ्यस्) भ्यस् = त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सुन्तो (हि का निषेध सूत्र 3/127) (3/9), (3/124)
(हरि+भ्यस्) = (हरि+त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सुन्तो)
= हरीत्तो→**हरित्तो** (1/84), **हरीओ**, **हरीउ, हरीहिन्तो, हरीसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
वारि (स्त्री)—**वारीत्तो→वारित्तो** 1/84, **वारीओ, वारीउ, वारीहिन्तो वारीसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
मइ (स्त्री)—मइत्तो →**मईत्तो** 1/84 **मईओ, मईउ, मईहिन्तो, मईसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
साहु (पु.)—साहूत्तो→साहुत्तो (1/84), **साहूओ, साहूउ, साहूहिन्तो, साहूसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
महु (नपुं)—**महुत्तो, महूओ, महूउ, महूहिन्तो, महूसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
धेणु (स्त्री)—**धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)
हरि (पु.)—(हरि+सुप्), सुप्→सु (3/15), (3/124)
(हरि+सु) = **हरीसु**
इसी प्रकार—**वारीसु**, **मईसु, साहूसु महूसु** तथा **धेणूसु** रूप बनेंगे।
इसी प्रकार—**गामणी** (पु), **सयंभू** (पु.), **लच्छी** (स्त्री) **और बहू** (स्त्री.) के रूप तीनों में बनेंगे।

15. **लुप्ते शसि** 3/18

लुप्ते (लुप्त) भूकृ 7/1 **शसि** (शस्) 7/1
(प्राकृत में) लोप किए गए **शस्** के होने पर (**दीर्घ** हो जाता है)।
इकारान्त, उकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग शब्दों से परे **शस्** (द्वितीया-बहुवचन के प्रत्यय) का लोप होने पर वे शब्द **दीर्घ** हो जाते हैं।
हरि (पु.)—(हरि+शस्) = (हरि+०) = **हरी** (द्वितीया बहुवचन)
मइ (स्त्री.)—(मइ+शस्) = (मइ+०) = **मई** (द्वितीया बहुवचन)
साहु (पु.)—(साहु+शस्) = (साहु+०) = **साहू** (द्वितीया बहुवचन)
धेणु (स्त्री.)—(धेणु+शस्) = (धेणु+०) = **धेणू** (द्वितीया बहुवचन)
इसी प्रकार **गामणी** (पु.), **सयंभू** (पु.), **लच्छी** (स्त्री.) और **बहू** (स्त्री) के रूप बनेंगे।

16. **अक्लीबे सौ** 3/19

अक्लीबे (अक्लीब) 7/1 **सौ** (सि) 7/1

(प्राकृत में) अक्लीब में अर्थात् पुल्लिग-स्त्रीलिंग (शब्दों में) **सि** परे होने पर (दीर्घ हो जाता है) ।

इकारान्त, उकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग शब्दों में **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) परे होने पर उनका दीर्घ हो जाता है। (और नियमानुसार **सि** का लोप हो जाता है) ।

हरि (पु.)—(हरि+सि) = (हरी+सि) = (हरी+०) = **हरी**

(प्रथमा बहुवचन)

मइ (स्त्री.)—(मइ+सि) = (मई+सि) = (मई+०) = **मई**

(प्रथमा बहुवचन)

साहु (पु.)—(साहु+सि) = (साहू+सि) = (साहू+०) = **साहू**

(प्रथमा बहुवचन)

धेणु (स्त्री.)—(धेणु+सि) = (धेणू+सि) = (धेणू+०) = **धेणू**

(प्रथमा एकवचन)

इसी प्रकार **गामणी** (पु), **सयंभू** (पु.), **लच्छी** (स्त्री.) और **बहू** (स्त्री.) के रूप बनेंगे ।

17. **पुंसि जसो डउ डओ वा** 3/20

पुंसि जसो डउ डओ वा [(जसः) + (डउ)] डओ वा

पुंसि (पुंस्) 7/1जस: (जस्) 6/1 डउ (डउ) 1/1 डओ (डओ) 1/। **वा** = विकल्प से (प्राकृत में) (इकारान्त-उकारान्त) पुल्लिग शब्दों में **जस्** के स्थान पर डउ→ **अउ** तथा डओ→ **अओ** विकल्प से (होता है) ।

इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग शब्दों में **जस्** (प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **अउ** तथा **अओ** विकल्प से होता है ।

हरि (पु.)—(हरि+जस्) = (हरि+अउ, अओ) = **हरउ, हरओ**

(प्रथमा बहुवचन)

गामणी (पु.) — (गामणी+जस्) = (गामणी+अउ, अओ) = **गामणउ, गामणओ**

(प्रथमा वहुवचन)

साहु (पु.)—(साहु+जस्) = (साहु+अउ, अओ) = **साहउ, साहओ**

(प्रथमा बहुवचन)

सयंभू (पु.)—(सयंभू+जस्) = (सयंभू+अउ, अओ) = **सयंभउ, सयंभओ**

(प्रथमा बहुवचन)

18. **वोतो डवो** 3/21

वोतो डवो [(वा) + (उतः) + (डवो)]

वा = विकल्प से **उत:** (उत्) 5/1 **डवो** (डवो) 1/1
(प्राकृत में) उकारान्त से परे (जस् के स्थान पर डवो→ **अवो** विकल्प से (होता है)।

उकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे **जस्** (प्रथम बहुवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **अवो** विकल्प से होता है।

साहु (पु.)—(साहु + जस्) = (साहु + अवो) = **साहवो** (प्रथमा बहुवचन)
सयंभू (पु)—(सयंभू + जस्) = (सयंभू + अवो) = **सयंभवो** (प्रथमा बहुवचन)

19. **जस्-शसोर्णो वा** 3/22

जस्-शसोर्णो वा [(शसो:) + (णो)] **वा** = विकल्प से
[(जस्)-(शस्) 6/2] **णो** (णो) 1/1 **वा** = विकल्प से

(प्राकृत में) (इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे) **जस्** और **शस्** के स्थान पर **णो** विकल्प से होता है।

इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे **जस्** (प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय) और **शस्** (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **णो** विकल्प से होता है। (दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है) (3/43)। और ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता है। (3/125)।

हरि (पु.)—(हरि + जस्) = (हरि + णो) = **हरिणो** (प्रथमा बहुवचन)
(हरि + शस्) = (हरि + णो) = **हरिणो** (द्वितीया बहुवचन)
साहु (पु.)—(साहु + जस्) = (साहु + णो) = **साहुणो** (प्रथमा बहुवचन)
(साहु + शस्) = (साहु + णो) = **साहुणो** (द्वितीया बहुवचन)
गामणी (पु.)—(गामणी + जस्) = (गामणि + णो) = **गामणिणो** (प्रथमा बहुवचन)
(गामणी + शस्) = (गामणि + णो) = **गामणिणो** (द्वितीया बहुवचन)
सयंभू (पु.)—(सयंभू + जस्) = (सयंभु + णो) = **सयंभुणो** (प्रथमा एकवचन)
(सयंभू + शस्) = (सयंभु + णो) = **सयंभुणो** (द्वितीया बहुवचन)
यहाँ 3/4, 3/12 और 3/124 से **हरी, साहू, गामणी** और **सयंभू** (प्रथमा बहुवचन)

20. **ङसि-ङसो: पुं-क्लीबे वा** 3/23

[(ङसि)-(ङस्) 6/2] [(पुं.)-(क्लीब) 7/1] **वा** = विकल्प से
(प्राकृत में) (इकारान्त-उकारान्त) पुल्लिग-नपुंसकलिंग (शब्दों) में **ङसि** और **ङस्** के स्थान पर विकल्प से (णो होता है)।

इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग-नपुंसकलिंग शब्दों में **ङसि** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय) और **ङस्** (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर विकल्प से **णो** होता है। दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता हैं (3/43). और ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता (3/125)।

हरि (पु.)—(हरि + ङसि) = (हरि + णो) = **हरिणो** (पंचमी एकवचन)
(हरि + ङस्) = (हरि + णो) = **हरिणो** (षष्ठी एकवचन)

साहु (पु.)—(साहु + ङसि) = (साहु + णो) = **साहुणो** (पंचमी एकवचन)
(साहु + ङस्) = (साहु + णो) = **साहुणो** (षष्ठी एकवचन)

वारि (नपुं.)—(वारि + ङसि) = (वारि + णो) = **वारिणो** (पंचमी एकवचन)
(वारि + ङस्) = (वारि + णो) = **वारिणो** (षष्ठी एकवचन)

महु (नपुं.)—(महु + ङसि) = (महु + णो) = **महुणो** (पंचमी एकवचन)
(महु + ङस्) = (महु + णो) = **महुणो** (षष्ठी एकवचन)

गामणी (पु.)—(गामणी + ङसि) = (गामणि + णो) = **गामणिणो** (पंचमी एकवचन)
(गामणी + ङस्) = (गामणि + णो) = **गामणिणो** (षष्ठी एकवचन)

सयंभू (पु.)—(सयंभू + ङसि) = (सयंभु + णो) = **सयंभुणो** (पंचमी एकवचन)
(सयंभू + ङस्) = (सयंभु + णो) = **सयंभुणो** (षष्ठी एकवचन)

21. **टो णा** 3/24

टो णा [(टः) + (णा)]
टः (टा) 6/1 **णा** (णा) 1/1
(प्राकृत में) (इकारान्त–उकारान्त) (पुल्लिग–नपुंसकलिंग) (शब्दों में)
टा के स्थान पर **णा** (होता है)।
इकारान्त–उकारान्त पुल्लिग–नपुंसकलिंग शब्दों में **टा** (तृतीया एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **णा** होता है।
दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। (3/43)

हरि (पु.)—(हरि + टा) = (हरि + णा) = **हरिणा** (तृतीया एकवचन)
साहु (पु.)—(साहु + टा) = (साहु + णा) = **साहुणा** (तृतीया एकवचन)
वारि (नपुं.)—(वारि + टा) = (वारि + णा) = **वारिणा** (तृतीया एकवचन)
महु (नपुं.)—(महु + टा) = (महु + णा) = **महुणा** (तृतीया एकवचन)
गामणी (पु.)—(गामणी + टा) = (गामणि + णा) = **गामणिणा** (तृतीया एकवचन)
सयंभू (पु.)—(सयंभू + टा) = (सयंभु + णा) = **सयंभुणा** (तृतीया एकवचन)

22. **क्लीबे स्वरान्म् सेः** 3/25

क्लीबे स्वरान्म् सेः [(स्वरात्) + (म्)] **सेः**
क्लीबे (क्लीब) 7/1 **स्वरात्** (स्वर) 5/1 **म्** (म्) 1/1
सेः (सि) 6/1
(प्राकृत में) नपुंसकलिंग में स्वर से परे सि के स्थान पर 'म्' (होता है)।

अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों में स्वर से परे **सि** (प्रथमा एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर म्→ ं होता है। (मोनुस्वारः 1/23 सूत्र से म् का ं हुआ है)।

कमल (नपुं.)—(कमल+सि) = (कमल+ ं) = **कमलं** (प्रथमा एकवचन)
वारि (नपुं.)—(वारि+सि) = (वारि+ ं) = **वारिं** (प्रथमा एकवचन)
महु (नपुं.)—(महु+सि) = (महु+ ं) = **महुं** (प्रथमा एकवचन)

23. **जस्-शस्-इँ-इं णयः सप्राग्दीर्घा** 3/26

जस्-शस्-इँ-इ णयः सप्राग्दीर्घाः [(स) + (प्राक्) + (दीर्घाः)]
[(जस्)-(शस्)-(इँ)-(इं)-(णि) 1/3] [(स)-(प्राक्)-(दीर्घ) 1/3].
(प्राकृत में) (नपुंसकलिंग में) **जस्** और **शस्** के स्थान पर **इँ, इं** और **णि** (होते हैं) (तथा) साथ ही पूर्व में स्थित स्वर **दीर्घ** (हो जाते हैं)।

अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों में **जस्** (प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और **शस्** (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **इँ, इं, णि** हो जाते हैं तथा साथ ही पूर्व में स्थित स्वर **दीर्घ** हो जाते हैं।

कमल (नपुं.)—(कमल+जस्) = (कमला+इँ, इ, णि) = **कमलाइँ, कमलाइं कमलाणि** (प्रथमा बहुवचन)
(कमल+शस्) = (कमला+इँ, इं, णि) = **कमलाइँ, कमलाइं, कमलाणि** (द्वितीया बहुवचन)

वारि (नपुं.)—(वारि+जस्) = (वारी+इँ, इं, णि) = **वारीइँ, वारीइं**, वारीणि (प्रथमा बहुवचन)
(वारि+शस्) = (वारी+इँ, इं, णि) = **वारीइं, वारीइं वारीणि** (द्वतीया बहुवचन)

महु (नपुं.)—(महु+जस्) = (महू+इँ, इं, णि) = **महूइँ, महूइं महूणि** (प्रथमा बहुवचन)
(महु+शस्) = (महू+इँ, इं, णि) = **महूइँ, महूइं, महूणि** (द्वितीया बहुवचन)

24. **स्त्रियामुदोतौ वा** 3/27

स्त्रियामुदोतौ वा [(स्त्रियाम्) + (उत्) + (ओतौ)] वा
स्त्रियाम् (स्त्री) 7/1 [(उत्)-(ओत्) 1/2] **वा** = विकल्प से
(प्राकृत में) स्त्रीलिंग में उत्→ **उ** और ओत्→ **ओ** विकल्प से (होते हैं)।
आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में जस् (प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और **शस्** (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) के स्थान पर विकल्प से **उ** और **ओ** होते हैं और साथ ही पूर्व में स्थित स्वर **दीर्घ** हो जाते हैं (यदि ह्रस्व हों तो)।

कहा (स्त्री.)—(कहा + जस्) = (कहा + उ, ओ) = **कहाउ, कहाओ**
(प्रथमा बहुवचन)
(कहा + शस्) = (कहा + उ, ओ) = **कहाउ, कहाओ**
(द्वितीया बहुवचन)

मइ (स्त्री.)—(मइ + जस्) = (मई + उ, ओ) = **मईउ, मईओ** (प्रथमा बहुवचन)
(मइ + शस्) = (मई + उ, ओ) = **मईउ, मईओ** (द्वितीया बहुवचन)

लच्छी (स्त्री.)—(लच्छी + जस्) = (लच्छी + उ, ओ) = **लच्छीउ लच्छीओ**
(प्रथमा एकवचन)
(लच्छी + शस्) = (लच्छी + उ, ओ) = **लच्छीउ, लच्छीओ**
(द्वितीया बहुवचन)

धेणु (स्त्री.)—(धेणु + जस्) = (धेणू + उ, ओ) = **धेणूउ धेणूओ** (प्रथमा बहुवचन)
(धेणु + शस्) = (धेणू + उ, ओ) = **धेणूउ, धेणूओ** (द्वितीया बहुवचन)

बहू (स्त्री.)—(बहू + जस्) = (बहू + उ, ओ) = **बहूउ, बहूओ** (प्रथमा बहुवचन)
(बहू + शस्) = (बहू + उ, ओ) = **बहूउ, बहूओ** (द्वितीया बहुवचन)

25. **ईतः से श्चा वा** 3/28

ईतः से श्चा वा [(सेः) + (च) + (आ)] **वा**

ईतः (इत्) 5/1 **सेः** (सि) 6/1 **च** (अ) = **और आ** (आ) 1/1 **वा** = विकल्प से (प्राकृत में) (स्त्रीलिंग में) दीर्घ इकारान्त से परे **सि** के स्थान पर विकल्प से **आ** (होता है) और जस् और शस् के स्थान पर भी **आ** विकल्प से (होता है)।

दीर्घ इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में **सि** (प्रथमा एकवचन के प्रत्यय) के स्थान पर तथा **जस्** (प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय) और **शस्** (द्वितीया बहुवचन के प्रत्यय) के स्थान पर **आ** विकल्प से होता है।

लच्छी (स्त्री.)—(लच्छी + सि) = (लच्छी + आ) = **लच्छीआ** (प्रथमा एकवचन)
(लच्छी + जस्) = (लच्छी + आ) = **लच्छीआ** (प्रथमा बहुवचन)
(लच्छी + शस्) = (लच्छी + आ) = **लच्छीआ** (द्वितीया बहुवचन)

26. **टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः** 3/29

टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः [(ङेः) + (अत्) + आत्) + (इत्) + एत् + (वा)] **तु ङसेः**

[(टा)-(ङस्)-(ङि) 6/1] **अत्** (अत्) 1/1 **आत्** (आत्) 1/1 **इत्** (इत्) 1/1 **एत्** (एत्) 1/1 **वा** = विकल्प से **तु** (अ) = **और ङसेः** (ङसि) 6/1

(प्राकृत में) (स्त्रीलिंग में) **टा, ङसि, ङस्** और **ङि** के स्थान पर अत्→**अ**, आत्→**आ**, इत्→**इ**, एत्→**ए** विकल्प से (होते हैं) और (साथ में पूर्व में स्थित स्वर दीर्घ हो जाते हैं, यदि ह्रस्व हों तो)

आकारान्त, इकारान्त और उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में **टा** (तृतीया एकवचन का प्रत्यय), **ङसि** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय), **ङस्** (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) और **ङि** (सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **अ, आ, इ** और **ए** विकल्प से हो जाते हैं और साथ में पूर्व में स्थित स्वर **दीर्घ** हो जाते हैं, यदि ह्रस्व हों तो ।

कहा (स्त्री.)—(कहा+टा) = (कहा+अ, इ, ए,) = **कहाअ, कहाइ, कहाए**
(तृतीया एकवचन)

(नात आत् 3/30 सूत्र से आकारान्त में 'आ' नहीं होता है)

(कहा+ङसि) = (कहा+अ, इ, ए) = **कहाअ, कहाइ, कहाए**
(पंचमी एकवचन)

(कहा+ङस्) = (कहा+अ, इ, ए) = **कहाअ, कहाइ, कहाए**
(षष्ठी एकवचन)

(कहा+ङि) = (कहा+अ,इ,ए) = **कहाअ कहाइ, कहाए**
(सप्तमी एकवचन)

मइ (स्त्री.)—(मइ+टा) = (मई+अ, आ, इ, ए) = **मईअ, मईआ, मईइ, मईए**
(तृतीया एकवचन)

(मइ+ङसि) = (मई+अ,आ, इ, ए) = **मईअ, मईआ, मईइ, मईए**
(पंचमी एकवचन)

(मइ+ङस्) = (मई+अ, आ, इ, ए) = **मईअ, मईआ, मईइ, मईए**
(षष्ठी एकवचन)

(मइ+ङि) = (मई+अ, आ, इ, ए) = **मईअ, मईआ, मईइ, मईए**
(सप्तमी एकवचन)

इसी प्रकार

लच्छी (स्त्री.)	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए	(तृतीया एकवचन)
	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए	(पंचमी एकवचन)
	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए	(षष्ठी एकवचन)
	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए	(सप्तमी एकवचन)
धेणु (स्त्री.)	धेणूअ, धेणआ, धेणूइ, धेणूए	(तृतीया एकवचन)
	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए	(पंचमी एकवचन)
	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ धेणूए	(षष्ठी एचवचन)
	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए	(सप्तमी एकवचन)
बहू (स्त्री.)	बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए	(तृतीया एकवचन)

बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए	(पंचमी एकवचन)
बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए	(षष्ठी एकवचन)
बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए	(सप्तमी एकवचन)

27. **नात आत्** 3/30

नात आत् [(न) + (आतः)] आत्
न (अ) = नहीं **आतः** (आत्) 5/1 **आत्** (आत्) 1/1
(प्राकृत में) आकारान्त (स्त्रीलिंग शब्दों) से परे (टा, ङसि, ङस् और 'ङि' के स्थान पर) आत्→**आ** नहीं (होता है)।

आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों से परे **टा** (तृतीया एकवचन का प्रत्यय), **ङसि** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय), **ङस्** (षष्ठी एकवचन) का प्रत्यय) और **ङि** (सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **आ** नहीं होता है। (निषेध सूत्र)
कहा में **आ** नहीं जोड़ा जाता है।

28. **ह्रस्वो मि** 3/36

ह्रस्वो मि [(ह्रस्वः) + (मि)]
ह्रस्वः (ह्रस्व) 1/1 मि (म्) 7/1
(प्राकृत में) म्→ ं परे होने पर ह्रस्व (हो जाता है)।

आकारान्त दीर्घ इकारान्त और दीर्घ उकारान्त पुल्लिग, स्त्रीलिंग शब्दों में द्वितीया के एकवचन में ं परे होने पर दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।

कहा (स्त्री.)—(कहा + ं) = (कह + ं) = **कहं**	(द्वितीया एकवचन)
लच्छी (स्त्री)—(लच्छी + ं) = (लच्छि + ं) = **लच्छिं**	(द्वितीया एकवचन)
बहू (स्त्री.)—(बहू + ं) = (बहु + ं) = **बहुं**	(द्वितीया एकवचन)
गामणी (पु.)—(गामणी + ं) = (गामणि + ं) = **गामणिं**	(द्वितीया एकवचन)
सयंभू (पु.)—(सयंभू + ं) = (सयंभु + ं) = **सयंभुं**	(द्वितीया एकवचन)

29. **नामन्त्र्यात्सौ मः** 3/37

नामन्त्र्यात्सौ मः [(न) + (आमन्त्र्यात्) + (**सौ**)] **मः**
न (अ) = अभाव **आमन्त्र्यात्** (आमन्त्र्य) 5/1 **सौ** (सि) 7/1 **मः** (म्) 6/1
(प्राकृत में) (नपुंसकलिंग शब्दों) में आमन्त्रण (संबोधन) से परे **सि** होने पर **म्** का अभाव (हो जाता है)

अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों में संबोधन से परे **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर **म्** का अभाव हो जाता है। **सि*** का लोप भी।

कमल (नपुं.)—(हे कमल+सि) = (हे कमल+०) = **हे कमल** (संबोधन एकवचन)
वारि (नपुं.)—(हे वारि+सि) = (हे वारि+०) = **हे वारि** (संबोधन एकवचन)
महु (नपुं.)—(हे महु+सि) = (हे महु+०) = **हे महु** (संबोधन एकवचन)

*संबोधन में प्रथमा का एकवचन संबुद्धि संज्ञक होता है। यहाँ '**सि**' संबुद्धि संज्ञक है अतः इसका लोप होता है (लघु सिद्धान्त कौमुदी 132)

30. डो दीर्घो वा 3/38

डो दीर्घो वा [(दीर्घः)+(वा)]
डो (डो) 1/1 दीर्घः (दीर्घ) 1/1 **वा** (अ) = विकल्प से
(प्राकृत में) (आमन्त्रण से परे **सि** होने पर) डो→**ओ** और **दीर्घ** विकल्प से (होता है)।

(i) आमन्त्रण से परे **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर अकारान्त पुल्लिग शब्दों में **ओ** और दीर्घ विकल्प से होता है और **सि** का लोप भी
देव (पु.)—(हे देव+सि) = (हे देवो+०) = **हे देवो** (संबोधन एकवचन)
विकल्प होने के कारण मूल भी होगा
(हे देव+सि) = (हे देव+०) = **हे देव** (संबोधन एकवचन)
(हे देव+सि) = (हे देवा+०) = **हे देवा** (संबोधन एकवचन)

(ii) आमन्त्रण से परे **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर ह्रस्व इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग शब्दों में (3/15) **दीर्घ** विकल्प से होता है। (सि का लोप भी हो जाता है)

हरि (पु.)—(हे हरि+सि) = (हे हरी+०) = **हे हरी** (संबोधन एकवचन)
विकल्प होने के कारण मूल भी होगा।
(हे हरि+सि) = (हे हरि+०) = **हे हरि** (संबोधन एकवचन)
साहु (पु.)—(हे साहु+सि) = (हे साहू+०) = **हे साहू** (संबोधन एकवचन)
(हे साहु+सि) = (हे साहु+०) = **हे साहु** (संबोधन एकवचन)
मइ (स्त्री.)-(हे मइ+सि) = (हे मई+०) = **हे मई** (संवोधन एकवचन)
(हे मइ+सि) = (हे मइ+०) = **हे मइ** (संबोधन एकवचन)
धेणु (स्त्री.) इसी प्रकार **हे धेणू, हे धेणु** (संबोधन एकवचन)

31. **ऋतोऽद्वा** 3/39

ऋतोऽद्वा [(ऋतः) + (अत्) + (वा)]

ऋतः (ऋत्) 6/1 **अत्** (अत्) 1/1 **वा** (अ) = विकल्प से

(प्राकृत में) (आमन्त्रण से परे) (सि होने पर) ऋत्→ ऋ के स्थान पर अत्→ **अ** विकल्प से हो जाता है।

आमन्त्रण से परे सि, (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर ऋत्→ **ऋ** के स्थान पर **अ** हो जाता है और **सि** का लोप हो जाता है।

पितृ (पु.)—(हे पितृ + सि) = (हे पिअ + सि) = (हे पिअ + ०) = **हे पिअ**
(संबोधन एकवचन)

दातृ (वि.)—(हे दातृ + सि) = (हे दाअ + सि) = (हे दाअ + ०) = **हे दाअ**
(संबोधन एकवचन)

32. **नामन्यरं वा** 3/40

नामन्यरं वा [(नाम्नि) 1(3/2)] **वा** (अ)

नाम्नि (नामन्) 7/1 **अरं** (अरं) 1/1 **वा** (अ) = विकल्प से

(प्राकृत में) (आमन्त्रण से परे) (सि होने पर) (ऋकारान्त) संज्ञा में **अरं** विकल्प से (हो जाता है)।

आमन्त्रण से परे सि (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर ऋकारान्त संज्ञा शब्दों में ऋ के स्थान पर अरं हो जाता है और सि का लोप हो जाता है।

पितृ (पु.)—(हे पितृ + सि) = (हे पिअरं + सि) = (हे पिअरं + ०) = **हे पिअरं**
(संबोधन एकवचन)

33. **वाप ए** 3/41

वाप ए [(वा) + (आपः) + (ए)]

वा (अ) = विकल्प से **आपः** (आप्) 5/1 **ए** (ए) 1/1

आमन्त्रण में आकारान्त से परे **सि** होने पर (उसका) **ए** विकल्प से होता है।

आमन्त्रण में आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों से परे '**सि**' (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर उसका **ए** विकल्प से होता है और सि का लोप भी।

कहा (स्त्री.)—(हे कहा + सि) = (हे कहे + ०) = **हे कहे** (संबोधन एकवचन)
(विकल्प होने से मूल भी होगा)
(हे कहा + सि) = (हे कहा + ०) हे **कहा** (संबोधन एकवचन)

34. **ईदूतोर्ह्रस्वः** 3/42

ईदूतोर्ह्रस्वः [(ईत्) + (ऊतोः) + (ह्रस्वः)]

[(ईत्)–(ऊत्) 5/2] **ह्रस्वः** (ह्रस्व) 1/1

(प्राकृत में) (आमन्त्रण में) **दीर्घ** इकारान्त और **दीर्घ** उकारान्त से परे **सि** होने पर उसका ह्रस्व हो जाता है (और सि का लोप भी हो जाता है)

आमन्त्रण में **दीर्घ** इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग शब्दों में **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) परे होने पर उसका ह्रस्व हो जाता है और सि का लोप हो जाता है ।

गामणी (पु.)—(हे गामणी + सि) = (हे गामणि + ०) = **हे गामणि** (संबोधन एकवचन)

सयंभू (पु.) – (हे सयंभू + सि) = (हे सयंभु + ०) = **हे सयंभु** (संबोधन एकवचन)

लच्छी (स्त्री.)—(हे लच्छी + सि) = (हे लच्छि + ०) = **हे लच्छि** (संबोधन एकवचन)

बहू (स्त्री.)—(हे बहू + सि) = (हे बहु + ०) = **हे बहु** (संबोधन एकवचन)

35. **क्विपः** 3/43

क्विपः (क्विप्) 5/1

(प्राकृत में) **दीर्घ** इकारान्त और **दीर्घ** उकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे प्रत्यय जुड़ने पर (णा, णो) वे ह्रस्व (हो जाते हैं) ।

क्विप् **दीर्घ** इकारान्त और **दीर्घ** उकारान्त पुल्लिग शब्दों से परे प्रत्यय जुड़ने पर (णा, णो) वे ह्रस्व (हो जाते हैं) ।

गामणी (पु.) – (गामणी + णा) = (गामणि + णा) = **गामणिणा** (3/24) (तृतीया एकवचन)

सयंभू (पु.)—(सयभू + णा) = (सयंभु + णा) = **सयंभुणा** (3/24) (तृतीया एकवचन)

इसी प्रकार **गामणिणो, सयंभूणो** होगा ।

36. **ऋतामुदस्यमौसु वा** 3/44

ऋतामुदस्यमौसु वा [(ऋताम्) + (उत्) + (अ) + (सि) + (अम्) + (औसु)] वा (अ)

ऋताम् (ऋत्) 6/3 **उत्** (उत्) 1/1 **अ** (अ) = नहीं

[(सि)–(अम्)–(औ) 7/3] **वा** (अ) = विकल्प से

(ऋकारान्त शब्दों में) ऋत्→ऋ के स्थान पर उत् → उ विकल्प से हो जाता है। (किन्तु) सि, अम् और औ परे होने पर नहीं (होता है)।

ऋकारान्त शब्दों में **सि** (प्रथमा एकवचन के प्रत्यय), **अम्** (द्वितीया एकवचन के प्रत्यय) और **औ** (प्रथमा-द्वितीया द्विवचन के प्रत्ययों) को छोड़कर शेष सभी प्रत्ययों के योग में **ऋ** के स्थान पर विकल्प से **उ** हो जाता है।

कर्तृ (पु.)—(कर्तृ+जस्, शस्, टा आदि) = कत्तु
पितृ (पु.)—(पितृ+जस्, शस् टा आदि) = पितु→पिउ

उकारान्त पुल्लिग शब्दों की तरह **कत्तु** और **पिउ** के रूप (प्रथमा और द्वितीया एकवचन, द्विवचन को छोड़कर) चलेंगे।

37. **आरः स्यादौ** 3/45

आरः स्यादौ [(सि)+(आदौ)]
आरः (आर) 1/1 [(सि)-(आदि) 7/1]

विशेषणात्मक (ऋकारान्त शब्दों में) **सि** आदि परे होने पर **ऋ** के स्थान पर **आर** (होता है)।

विशेषणात्मक ऋकारान्त शब्दों में **सि** (प्रथमा एकवचन के प्रत्यय) आदि परे होने पर **ऋ** के स्थान पर **आर** होता है।

कर्तृ (वि)—(कर्तृ+सि, अम्, जस् आदि) = कर्तार→**कत्तार**
दातृ (वि)—(दातृ+सि, अम्, जस् आदि) = दातार→**दाआर**
इनके रूप **अकारान्त** पु. नपु. की तरह चलेंगे।

38. **आ अरा मातुः** 3/46

आ (आ) 1/1 अरा (अरा) 1/1 मातुः (मातृ) 6/1

मातृ के (ऋ के स्थान पर) (सभी प्रत्ययों के योग में) आ और अरा (होते हैं)

मातृ = माआ, माअरा

इनके रूप आकारान्त की तरह चलेंगे।

39. **नाम्न्यरः** 3/47

नाम्न्यरः [(नाम्नि)+(अरः)]
नाम्नि (नामन्) 7/1 **अरः** (अर) 1/1
(ऋकारान्त) संज्ञा (शब्दों) में **अर** (होता है)।
ऋकारान्त संज्ञा शब्दों में **सि** आदि परे होने पर **ऋ** के स्थान पर **अर** होता है।
पितृ (पु.)—(पितृ+सि आदि) = पितर→पिअर
इनके रूप अकारान्त पुल्लिग की तरह चलेंगे।

40. **आ सौ न वा** 3/48

आ (आ) 1/1 **सौ** (सि) 7/1 न वा (अ) = विकल्प से
(ऋकारान्त शब्दों में) **सि** परे होने पर (**ऋ** के स्थान पर) **आ** विकल्प से होता है।

ऋकारान्त शब्दों में सि (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) परे होने पर **ऋ** के स्थान पर **आ** विकल्प से होता है और फिर **सि** का लोप हो जाता है।

पितृ (पु.)—(पितृ+सि) = (पिआ+०) = **पिआ** (प्रथमा एकवचन)
कर्तृ (वि)—(कर्तृ+सि) = (कत्ता+०) = **कत्ता** (प्रथमा एकवचन)

41. **राज्ञः** 3/49

राज्ञः (राजन्) 5/1

राजन्[1]→राय से परे **सि** होने पर (**अ** के स्थान पर) **आ** (विकल्प से) (होता है)।

राय से परे **सि** (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) होने पर अ के स्थान पर **आ** विकल्प से होता है और **सि** का लोप हो जाता है।

राय (पु.)—(राय+सि) = (राया+०) = राया (प्रथमा एकवचन)

[1]राजन्→ राज 1/11 अन्त्यव्यञ्जनस्य (लुक्) 1/11, 1/10
राज→ राअ 1/177 क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक् 1/177
राअ→ राय 1/180 अवर्णो य श्रुति 1/180

42. **जस्-शस्-ङसि-ङसां णो** 3/50

जस्–शस्–ङसि–ङसां णो [(ङसाम्)+(णो)]
[(जस्)–(शस्)–(ङसि)–(ङस्) 6/3] णो (णो) 1/1
(प्राकृत में) राज→(राय से परे) **जस्, शस्, ङसि** और **ङस्** के स्थान पर **णो** (विकल्प से) (होता है)।

राज→ **राय** से परे **जस्** (प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय), **शस्** (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) **ङसि** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय) और **ङस्** (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **णो** विकल्प से होता है।

राज→ राय—(राज+जस्) = (राज+णो)

सूत्र 3/52 (इर्जस्य णो–णा–ङौ) से **ज** के स्थान पर **इ** हो जाता है।

∴ (राज+णो) = (राइ+णो) = **राइणो** (प्रथमा बहुवचन)
(राज+शस्) = (राइ+णो) = **राइणो** (द्वितीया बहुवचन)

(राज + ङसि) = (राइ + णो) = **राइणो** (पंचमी एकवचन)
(राज + ङस्) = (राइ + णो) = **राइणो** (षष्ठी एकवचन)
सूत्र 3/55 (**आजस्य टा–ङसि–ङस्सु सणाणोष्वण्**)
से **राज** में निहित **आज** के स्थान पर **अण्** हो जाता है ।
∴ (राज + ङसि) = (राज + णो) = (रण् + णो) = **रण्णो** (पंचमी एकवचन)
(राज + ङस्) = (राज + णो) = (रण् + णो) = **रण्णो** (षष्ठी एकवचन)
राज→ राय—(राय + जस्) = (राय + णो)
सूत्र 3/12 का प्रयोग करने पर (राया + णो) = **रायाणो** (3/12) (प्रथमा बहुवचन)
(राय + शस्) = (राय + णो) = (राया + णो) = **रायाणो** (3|12) (द्वितीया बहुवचन)
(राय + ङसि) = (राय + णो) = (राया + णो) = **रायाणो** (3/12) (पंचमी एकवचन)
(राय + ङस्) = (राय + णो) = **रायणो** (षष्ठी एकवचन)
(राय + जस्) = (राय + ०) = (राया + ०) + **राया** 3/12, 3/4
(राय + शस्) = (राय + ०) = (राया + ०) = **राया** 3/12, 3/4

43. टो णा 3/51

टो णा [(टः) + (णा)]
टः (टा) 6/1 **णा** (णा) 1/1
(प्राकृत में) राज→ राअ→ राय से परे **टा** के स्थान पर **णा** (विकल्प से) (होता है)
राज→ राअ→ राय से परे **टा** (तृतीया एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **णा** विकल्प से होता है ।
राज→ राअ→ राय— (राज + टा) = (राइ + णा) = **राइणा** (तृतीया एकवचन)
(यहाँ '**ज**' का '**इ**' हुआ है 3/52)
(राज + टा) = (रण् + णा) = **रण्णा** (तृतीया एकवचन)
(यहाँ राज के **आज** का **अण्** हुआ है 3/55)

44. इर्जस्य णो-णा-ङौ 3/52

इर्जस्य णो-णा-ङौ [(इः) + (जस्य)]
इः (इ) 1/1 **जस्य** (ज) 6/1 [(णो)-(णा)-(ङि) 7/1]
(प्राकृत में) राज→ राअ→ राय से परे **णो, णा** और **ङि** होने पर **ज** के स्थान पर **इ** (विकल्प से) हो जाता है ।

राज→ राअ→ राय से परे **णो, णा** और **ङि** (सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) होने **ज** के स्थान पर विकल्प से **इ** हो जाता है। इस सूत्र का उपयोग 3/50 और 3/51 में आंशिक हो गया है। शेष निम्नलिखित है।

राज→ राअ→ राय—(राज + ङि) = (राइ + ङि)
सूत्र **डे म्मि ङेः** 3/11 और सूत्र **डे ङेः**
के आधार से यहाँ ङ = **म्मि** होगा
∴ (राइ + ङि) = (राइ = म्मि) = **राइम्मि** (सप्तमी एकवचन)

45 **इणममामा** 3/53.

इणममामा [(इणं) + (अमा) + (आमा)]
इणं (इणं) 1/1 **अमा** (अम्) 3/1 **आमा** (आम्) 3/1
(प्राकृत में) राज से परे अम् सहित और आम् सहित **'ज'** के स्थान पर **इणं** (विकल्प से) होता है।

राज से परे **अम्** (द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) और आम् (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) सहित **ज** के स्थान पर **इणं** विकल्प से होता है।

राज—(राज + अम्) = **राइणं** (द्वितीया एकवचन)
(राज + आम्) = **राइणं** (षष्ठी बहुवचन)

46. **ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि** 3/54

ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि [(ईत्) + (भिस्) + (भ्यस्) + (आम्) + (सुपि)]
इत् (इत्) 1/1 [(भिस्)–(भ्यस्)–(आम्)–(सुप्) 7/1]
(प्राकृत में) राज से परे भिस्, भ्यस्, आम् और सुप् होने पर (**ज** के स्थान पर) **ईत्**→ **ई** (विकल्प से) हो जाता है।

राज से परे **भिस्** (तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) **आम्** (षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) और **सुप्** (सप्तमी बहुवचन का प्रत्यय) होने पर **ज** के स्थान पर **ई** विकल्प से हो जाता है।

राज— (राज + भिस्) भिस् = हि, हिँ, हिं (3/7) (3/16) (3/124)
(राई + हि, हिँ, हिं) = **राईहि, राईहिँ, राईहिं** (तृतीया बहुवचन)
—(राज + भ्यस्), भ्यस् = त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सन्तो (3/16) (3/9, 3/124)
(राई + त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सुन्तो) = राईत्तो→ **राईत्तो राईओ, राईउ राईहिन्तो, राईसुन्तो** (पंचमी बहुवचन)

—(राज + आम्), आम् = ण (3/124) (3/6).
(राई + ण) = **राईण** (षष्ठी बहुवचन)

—(राज+सुप्) सुप्→सु (3/16) (3/15) (3/124)
(राई+सु) = **राईसु** (सप्तमी बहुवचन)

47. **ग्राजस्य टा–ङसि–ङस्सु सणाणोष्वण्** 3/55

सरणारणोष्वण् [(स)–(णा)+(णोषु)+(ग्रण्)]
ग्राजस्य (ग्राज) 6/1 [(टा)–(ङसि)–(ङस्) 7/3]
[(स)–(णा)–(णो) 7/3] **ग्रण्** (ग्रण्) 1/1

(प्राकृत में) (राज से परे) **टा** के स्थान पर **णा** होने पर, **ङसि** ग्रौर **ङस्** में **णो** होने पर (राज में निहित) **ग्राज** के स्थान पर **ग्रण्** (विकल्प से) हो जाता है।
राज से परे टा (तृतीया एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **रणा** होने पर, **ङसि** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय), ग्रौर ङस् (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) में **णो** होने पर राज में निहित **ग्राज** के स्थान पर **ग्रण्** (विकल्प से) हो जाता है।

राज— (राज+टा) = (राज+णा) = (रण्+णा) = **रण्णा** (तृतीया एकवचन)
(राज+ङसि) = (राज+णो) = (रण्+णो) = **रण्णो** (पंचमी एकवचन)
(राज+ङस्) = (राज+णो) = (रण्+णो) = **रण्णो** (षष्ठी एकवचन)

48. **पुंस्यन ग्राणो राजवच्च** 3/56

पुंस्यन ग्रारणो राजवच्च [(पुंसि)+(ग्रनः)+(ग्राणः)+(राजवत्)+(च)]
पुंसि (पुंस्) 7/1 **ग्रनः** (ग्रन्) 6/1 **ग्रारणः** (ग्राण) 1/1
राजवत् (ग्र) = राजन् के समान **च** (ग्र) = ग्रौर (ग्रन् ग्रन्तवाले) पुंल्लिग शब्दों में **ग्रन्** के स्थान पर **ग्रारण** विकल्प से हो जाता है। ग्रौर राजन् के समान भी प्रयोग (होता है)।

ग्रन् ग्रन्तवाले पुंल्लिग शब्दों में **ग्रन्** के स्थान पर **ग्रारण** विकल्प से हो जाता है। ऐसे सभी शब्द ग्रकारान्त की तरह होते हैं। ग्रौर ग्रन् ग्रन्तवाले पुंल्लिग शब्द **राजन्** के समान भी प्रयोग में ग्राते हैं।

ग्रात्मन् = ग्रात्माण = ग्रप्पाण या ग्रत्ताण (ग्रकारान्त)
ग्रात्मन् = ग्रात्म = ग्रप्प वा ग्रत्त (राजन् की तरह)
राजन् = राग्राण = रायाण (ग्रकारान्त)

49. **ग्रात्मनष्टो रिणग्रा णइग्रा** 3/57

ग्रात्मनष्टो णिग्रा णइग्रा [(ग्रात्मनः)+(टः)+(णिग्रा)] णइग्रा
ग्रात्मनः (ग्रात्मन्) 5/1 टः (टा) 6/1 णिग्रा (णिग्रा) 1/1 **णइग्रा** (णइग्रा) 1/1
ग्रात्मन्→ग्रप्प से परे **टा** के स्थान पर णिग्रा ग्रौर णइग्रा (विकल्प से) हो जाते हैं।

अप्प से परे टा (तृतीया एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर णिआ और णइआ विकल्प से हो जाते हैं।

अप्प—(अप्प+टा) = (अप्प+णिआ, णइआ) = **अप्पणिआ, अप्पणइआ** (तृतीया एकवचन)

50. **शेषेऽदन्तवत्** 3/124

शेषेऽदन्तवत् [(शेषे)+(अदन्तवत्)]

शेषे (शेष) 7/1 **अदन्तवत्** (अ) = अकारान्त के समान।

शेष में अकारान्त के समान (रूप चलेंगे)।

जो रूप बचे हुए हैं उन्हें अकारान्त के समान समझना चाहिए।

जैसे ह्रस्व इकारान्त-उकारान्त पुल्लिग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग शब्दों में द्वितीया एकवचन बनाने का सूत्र नहीं दिया गया है। ये रूप अकारान्त की तरह बना लेने चाहिए।

हरि (पु.)—हरिं (द्वितीया एकवचन)
साहु (पु.)—साहुं (द्वितीया एकवचन)
वारि (नपुं.)—वारिं (द्वितीया एकवचन)
महु (नपुं.)—महुं (द्वितीया एकवचन)
मइ (स्त्री.)—मइं (द्वितीया एकवचन)
धेणु (स्त्री)—धेणुं (द्वितीया एकवचन)

इसी प्रकार दूसरे शब्द भी समझे जाने चाहिए।

51. **न दीर्घो णो** 3/125

न दीर्घो णो [(दीर्घः)+(णो)]

न (अ) = नहीं **दीर्घः** (दीर्घ) 1/1 **णो** (णो) 1/1

(प्राकृत में) (यदि) **णो** प्रत्यय लगता है, (तो) (पूर्व स्वर) दीर्घ नहीं (होता है)।

इस सूत्र का प्रयोग 3/22 और 3/23 के लिए है।

52. **ङसे र्लुक्** 3/126

ङसे र्लुक् [(ङसेः+(लुक्)]

ङसेः (ङसि) 6/1 (लुक्) 1/1

(प्राकृत में) (शेष में) (आकारान्त, इकारान्त–उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में) (इकारान्त–उकारान्त पुल्लिग–नपुंसकलिंग शब्दों में) **ङसि** के स्थान पर **लोप प्रत्यय** नहीं होता है।

आकारान्त, इकारान्त–उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में तथा इकारान्त-उकारान्त-पुल्लिग-नपुंसकलिंग शब्दों से परे ङसि (पंचमी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **लोप प्रत्यय** नहीं होता है।

ङस् = त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो और लुक् (3/8)

53. **भ्यसश्च हिः** 3/127

भ्यसश्च हिः [(भ्यसः) + (च)] हिः
भ्यसः (भ्यस्) 6/1 **च** (अ) और **हिः** (हि) 1/1
(प्राकृत में) (शेष में) (आकारान्त, इकारान्त-उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में)
(तथा इकारान्त-उकारान्त पुलिंग-नपुंसकलिंग शब्दों में)
भ्यस् और (ङसि) के स्थान पर '**हि**' (नहीं होता है)।

आकारान्त, इकारान्त–उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में तथा इकारान्त–उकारान्त पुल्लिग–नपुंसकलिंग शब्दों में **भ्यस्** (पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) और ङसि (पंचमी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर 'हि' नहीं होता है।

भ्यस् = त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो, सुन्तो (3/9)
उपर्युक्त दोनों सूत्रों को मिलाने पर (3/126 + 3/127) यह निष्कर्ष निकला कि
ङसि = त्तो, दो, दु, हिन्तो = त्तो, दो→ **ओ**, दु→ **उ**, हिन्तो।
भ्यस् = त्तो, दो, दु, हिन्तो, सुन्तो = त्तो, दो→ **ओ**, दु→ **उ**, हिन्तो, **सुन्तो**।
इन प्रत्ययों के लगाने पर पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है (3/12) और (3/16)

	पंचमी एकवचन (ङसि) (त्तो, ओ, उ, हिन्तो)	**पंचमी बहुवचन** (भ्यस्) (त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सुन्तो)
कहा (**स्त्री.**)	कहात्तो→ कहत्तो कहाओ, कहाउ, कहाहिन्तो	कहात्तो→ कहत्तो, कहाओ, कहाउ, कहाहिन्तो, कहासुन्तो
मइ (**स्त्री.**)	मईत्तो→ मइत्तो, मईओ, मईउ, मईहिन्तो	मईत्तो→ मइत्तो, मईओ, मईउ, मईहिन्तो, मईसुन्तो
लच्छी (**स्त्री.**)	लच्छीत्तो→ लच्छित्तो, लच्छीओ, लच्छीउ, लच्छीहिन्तो	लच्छीत्तो→ लच्छित्तो, लच्छीओ, लच्छीउ, लच्छीहिन्तो, लच्छीसुन्तो
धेणु (**स्त्री.**)	धेणूत्तो→ धेणुत्तो, धेणूओ धेणूउ, धेणूहिन्तो	धेणूत्तो→ धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूसुन्तो
बहू (**स्त्री.**)	बहूत्तो→ बहुत्तो, बहूओ, बहूउ, बहूहिन्तो	बहूत्तो→ बहुत्तो, बहूओ, बहूउ, बहूहिन्तो, बहूसुन्तो

हरि (पु.)—	हरीत्तो→ हरित्तो, हरीओ, हरीउ, हरीहिन्तो	हरीत्तो→ हरित्तो, हरीओ, हरीउ, हरीहिन्तो, हरीसुन्तो
गामणी (पु.)—	गामणीत्तो→ गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो	गामणीत्तो→ गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो, गामणीसुन्तो
साहु (पु.)—	साहूत्तो→ साहुत्तो, साहूओ, साहूउ, साहूहिन्तो	साहूत्तो→ साहुत्तो, साहूओ, साहूउ, साहूहिन्तो, साहूसुन्तो
सयंभू (पु.)—	सयंभूत्तो→ सयंभुत्तो, सयंभूओ, सयंभूउ, सयंभूहिन्तो	सयंभूत्तो→ सयंभुत्तो, सयंभूओ, सयंभूउ, सयंभूहिन्तो, संयभूसुन्तो
वारि (नपुं.)—	वारीत्तो→ वारित्तो, वारीओ, वारीउ, वारीहिन्तो	वारीत्तो→ वारित्तो, वारीओ, वारीउ, वारीहिन्तो, वारीसुन्तो
महु (नपुं.)—	महूत्तो→ महुत्तो, महूओ, महूउ, महूहिन्तो	महूत्तो→ महुत्तो, महूओ, महूउ, महूहिन्तो, महूसुन्तो

54. **ङे र्डे** 3/128

ङे र्डे [(ङेः) + (डे)]

ङेः (ङि) 6/1 **डे** (डे) 1/1

(प्राकृत में) शेष में अर्थात् इकारान्त, उकारान्त, पुल्लिग–नपुंसकलिंग शब्दों से परे **ङि** के स्थान पर डे→ **ए** नहीं होता है।

इकारान्त, उकारान्त पुल्लिग-नपुंसकलिंग शब्दों से परे **ङि** (सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) के स्थान पर **ए** प्रत्यय नहीं होता है। **ङि** = ए और म्मि (3/11) इनमें से केवल '**म्मि**' ही होगा।

हरि (पु.)—(हरि + ङि) = (हरि + म्मि) = **हरिम्मि** (सप्तमी एकवचन)
गामणी (पु.)—(गामणी + ङि) = (गामणी + म्मि) = गामणीम्मि→ **गामणिम्मि** (सप्तमी एकवचन)

इसी प्रकार **साहुम्मि**, सयंभूम्मि→ **सयंभुम्मि वारिम्मि, महुम्मि** (सप्तमी एकवचन)

55. **एत्** 3/129

एत् (एत्) 1/1

(प्राकृत में) (शेष में) (अर्थात् आकारान्त स्त्रीलिंग इकारान्त–उकारान्त पुल्लिग, नपुंसकलिंग व स्त्रीलिंग शब्दों से परे) (शस्, भिस् टा, भ्यस् व सुप् होने पर) अन्त्य

स्वर एत्→ए नहीं होता है ।

आकारान्त स्त्रीलिंग, इकारान्त, उकारान्त पुल्लिग, नपुंसकलिंग व स्त्रीलिंग शब्दों से परे **शस्** (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय), **भिस्** (तृतीया बहुवचन का प्रत्यय), **टा** (तृतीया एकवचन का प्रत्यय), **भ्यस्** (पंचमी एकवचन का प्रत्यय) और **सुप्** (सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) होने पर अन्त्य स्वर **ए** नहीं होता । जो रूप बनते हैं वे यथास्थान दे दिए गए हैं ।

56. **द्विवचनस्य बहुवचनम्** 3/130

द्विवचनस्य (द्विवचन) 6/1 **बहुवचनम्** (बहुवचन) 1/1

(प्राकृत में) द्विवचन के स्थान पर बहुवचन (होता है) ।

प्राकृत में द्विवचन नहीं होता है और उसके लिए बहुवचन का प्रयोग किया जाता है ।

57. **चतुर्थ्याः षष्ठी** 3/131

चतुर्थ्याः (चतुर्थी) 6/1 **षष्ठी** (षष्ठी) 1/1

प्राकृत में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होता है ।

58. **तादर्थ्य-ङे र्वा** 3/132

तादर्थ्य-ङे र्वा [(ङेः) + (वा)]

[(तादर्थ्य)-ङेः (ङे) 1/1] **वा** (अ) = विकल्प से

(प्राकृत में) तादर्थ्य अर्थ में (संस्कृत का) **ङे** प्रत्यय विकल्प से होता है ।

'उसके लिए' अर्थ में संस्कृत का ङे→आय प्रत्यय अकारान्त में विकल्प से होता है ।

देव (पु.)—(देव + ङे) = (देव + आय) = देवाय (चतुर्थी एकवचन)

59. **शेषं संस्कृतवत् सिद्धम्** 4/448

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् [(शेषम्) + (संस्कृतवत्)]—सिद्धम्

शेषम् (शेष) 1/1 **संस्कृतवत्** (अ) = संस्कृत के समान

सिद्धम् (सिद्ध) 1/1

प्राकृत में बचे हुए रूप आदि संस्कृत के समान नियमों से सिद्ध (होते हैं) ।

60. **क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा** 1/27

क्त्वा स्यादेर्ण-स्वोर्वा [(सि) + (आदेः) + (ण)-(स्वोः) + (वा)]

[(क्त्वा)-(सि)-(आदि) 6/1] [(ण)-(सु) 7/2] **वा** (अ) = विकल्प से

(प्राकृत में) क्त्वा→ऊण, उआण के अन्त के **ण** पर तथा (विभिन्न शब्दों से परे) सि आदि के स्थान पर **ण** और **सु** होने पर विकल्प से उन पर **अनुस्वार** भी हो जाता है ।

ऊण, उआण के अन्त के ण पर तथा पु. नपुं. स्त्री. शब्दों से परे सि (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) आदि के स्थान पर **ण** और **सु** होने पर विकल्प से उन पर **अनुस्वार** भी हो जाता है।

देव —	देवेण = देवेणं	(तृतीया एकवचन)
	देवाण = देवाणं	(षष्ठी बहुवचन)
	देवेसु = देवेसुं	(सप्तमी बहुवचन)

भण (क्रिया)—(भण + ऊण) = भणिऊण = भणिउणं
(भण + उआण) = भणिउआण = भणिउआणं

अकारान्त पुंल्लिग (देव)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	देवो (1)	देवा (2, 10)
द्वि.	देवं (3)	देवा (2, 10), देवे (12)
तृ.	देवेण (4, 12) देवेणं (60)	देवेहि, देवेहिँ, देवेहिं (13)
च.	देवस्स (57, 8) देवाय (58)	देवाण (57, 4, 10) देवाणं (60)
पं.	देवत्तो, देवाओ, देवाउ दवाहि, देवाहिन्तो, देवा (10)	देवत्तो, देवाओ, देवाउ (10) देवाहि, देवाहिन्तो, देवासुन्तो (11) देवेहि, देवेहिन्तो, देवेसुन्तो (13)
ष.	देवस्स (8)	देवाण (4, 10) देवाणं (60)
स.	देवे, देवम्मि (9)	देवेसु (13) देवेसुं (60)
सं.	हे देवो, हे देव, हे देवा (30)	हे देवा (59)

इकारान्त पुंल्लिग (हरि)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	हरी (16)	हरउ, हरओ (17) हरिणो, हरी (19, 2, 10, 50)
द्वि.	हरिं (3, 50)	हरी, हरिणो (15, 19)
तृ.	हरिणा (21)	हरीहि, हरीहिँ, हरीहिं (14)
च.	हरिणो (57, 20) हरिस्स (50, 8)	हरीण (4, 10, 50, 57) हरीणं (60)

	एकवचन	बहुवचन
पं.	हरिणो (20) हरित्तो, हरीओ, हरीउ, हरीहिन्तो (53)	हरित्तो, हरिओ, हरीउ, हरिहिन्तो, हरीसुन्तो, (14)
ष.	हरिणो (20) हरिस्स (50, 8)	हरीण (4, 10, 50) हरीणं (60)
स.	हरिम्मि (54)	हरीसु, हरीसुं (14, 60)
सं.	हे हरी, हे हरि (30)	हे हरउ, हे हरओ, हे हरिणो, हे हरी (59)

ईकारान्त पुल्लिग (गामणी)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	गामणी (16)	गामणउ, गामणओ (17) गामणिणो, गामणी (19, 2, 10, 50)
द्वि.	गामणिं (28)	गामणी (15) गामणिणो (19)
तृ.	गामणिणा (21)	गामणीहि, गामणीहिँ, गागणीहिं (14)
च.	गामणिणो (57, 20) गामणिस्स (50, 8)	गामणीण (4, 10, 50, 57) गामणीणं (60)
पं.	गामणिणो (20) गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो (53)	गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो गामणीसुन्तो (14)
ष.	गामणिणो (20) गामणिस्स (50, 8)	गामणीण (4, 10, 50) गामणिणं (60)
स.	गामणिम्मि (54)	गामणीसु (14) गामणीसुं (60)
सं.	हे गामणि (34)	हे गामणउ, हे गामणओ, हे गामणिणो, हे गामणी (59)

उकारान्त पुल्लिग (साहु)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	साहू (16)	साहउ, साहओ, साहवो (17, 18) साहुणो, साहू (19, 2, 10, 50)
द्वि.	साहुं (3, 50)	साहू, साहुणो (15, 19)
तृ.	साहुणा (21)	साहूहि, साहूहिँ, साहूहिं (14)
च.	साहुणो, साहुस्स (57, 20, 50, 8)	साहूण, साहूणं (4, 10, 50, 60, 57)

पं. साहुणो (20) साहुत्तो, साहूओ, साहूउ साहूहिन्तो (53)	साहुत्तो, साहूओ, साहूउ, साहूहिन्तो, साहूसुन्तो (14)
ष. साहुणो, साहुस्स (20, 50, 8)	साहूण, साहूणं (4, 10, 50, 60)
स. साहुम्मि (54)	साहूसु, साहूसुं (14, 60)
सं. हे साहू, हे साहु (30)	हे साहउ, हे साहओ, हे साहवो, हे साहुणो हे साहु (59)

उकारान्त पुंल्लिग (सयंभू)

एकवचन	बहुवचन
प्र. सयंभू (16)	सयंभउ, सयंभओ, सयंभवो (17, 18) सयंभुणो, सयंभू (19, 2, 10, 50)
द्वि. सयंभुं (28)	सयंभू, सयंभूणो (15, 19)
तृ. सयंभुणा (21)	सयंभूहि, सयंभूहिँ, सयंभूहिं (14)
च. सयंभुणो (57, 20) सयंभुस्स (50, 8)	सयंभूण (4, 10, 50, 57) सयंभूणं (60)
पं. सयंभुणो (20) सयंभुत्तो, सयंभूओ, सयंभूउ सयंभूहिन्तो (53)	सयंभुत्तो, सयंभूओ, सयंभूउ सयंभूहिन्तो, सयंभूसुन्तो (14)
ष. सयंभूणो (20) सयंभुस्स (50, 8)	सयंभूण (4, 10, 50) सयंभूणं (60)
स. सयंभुम्मि (54)	सयंभूसु (14) सयंभूसुं (60)
सं. हे सयंभु (34)	हे सयंभउ, हे सयंभओ, हे सयंभवो, हे सयंभुणो, हे सयंभू (59)

अकारान्त नपुंसकलिंग (कमल)

प्र. कमलं (22)	कमलाइँ, कमलाइं, कमलाणि (23)
द्वि. कमलं (3, 50)	कमलाइँ, कमलाइं, कमलाणि (23)
सं. हे कमल (29)	हे कमलाइँ, हे कमलाइं, हे कमलाणि (59)

शेष पुंल्लिग के समान

इकारान्त नपुंसकलिंग (वारि)

प्र.	वारिं (22)	वारीइँ, वारीइं, वारीणि (23)
द्वि.	वारिं (3, 50)	वारीइँ, वारीइं, वारीणि (23)
सं.	हे वारि (29)	हे वारीइँ, हे वारीइं, हे वारीणि (59)

शेष पुल्लिग के समान

ऋकारान्त पुल्लिग (पितृ→ पितु→ पिउ) (36)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	पिग्रा (40)	पिग्रउ, पिग्रग्रो, पिग्रवो, पिउणो, पिऊ (साहु के समान)
द्वि.	×	पिउणो, पिऊं
सं.	हे पिउ, हे पिग्ररं (31, 32)	हे पिग्रउ, पिग्रग्रो, पिग्रवो, हे पिउणो, हे पिऊं

शेष रूप **साहु** के समान (उकारान्त पुल्लिग के समान)

उकारान्त नपुंसकलिंग (महु)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	महुं (22)	महूइँ, महूइं, महूणि (23)
द्वि.	महुं (3, 30)	महूइँ, महूइं, महूणि (23)
सं.	हे महु (29)	हे महूइँ, हे महूइं, हे महूणि (59)

शेष पुल्लिग के समान

ऋकारान्त पुल्लिग विशेषण (कर्तृ→ कर्तु→ कत्तु) (36)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	कत्ता (40)	
द्वि.	×	
सं.	हे कत्त, (31)	

शेष सभी रूप **साहु** के समान होंगे
(उकारान्त पुल्लिग के समान)

ऋकारान्त नपुंसकलिंग विशेषण

(कर्तृ→ कर्तु→ कत्तु)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	कत्ता (40)	
द्वि.	×	
सं.	हे कत्त	

शेष सभी रूप **महु** के समान होंगे
(उकारान्त नपुंसकलिंग के समान)

देखें–प्राकृत मार्गोपदेशिका, पं. बेचरदास जी, पृष्ठ 279

आकारान्त स्त्रीलिंग (कहा)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	कहा (59)	कहाउ कहाओ (24) कहा (50, 2, 12)
द्वि.	कहं (28)	कहाउ,.कहाओ (24) कहा (50, 2, 12)
तृ.	कहाअ, कहाइ कहाए (26)	कहाहि, कहाहिँ, कहाहिं (50, 5)
च.	कहाअ, कहाइ, कहाए (26, 57)	कहाण (4, 10, 50, 57) कहाणं (60)
पं.	कहाओ, कहाइ कहाए, (26) कहत्तो, कहाओ कहाउ, कहाहिन्तो (53)	कहत्तो, कहाओ, कहाउ कहाहिन्तो, कहासुन्तो (53)
ष.	कहाअ, कहाइ, कहाए (26)	कहाण (4, 10, 50) कहाणं (60)
स.	कहाअ, कहाइ, कहाए (26)	कहासु (13, 50, 55) कहासुं (60)
सं.	हे कहे, हे कहा (33)	हे कहाउ, हे कहाओ, हे कहा (59)

इकारान्त स्त्रीलिंग (मइ)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	मई (16)	मईउ, मईओ, (24) मई (50, 2, 15)
द्वि.	मइं (50, 3)	मईउ, मईओ (10, 24) मई (15)
तृ.	मईअ, मईआ, मईइ, मईए (26)	मईहि, मईहिँ, मईहिं (14)
च.	मईअ, मईआ, मईइ, मईए (26, 57)	मईणं (4, 10, 50, 57) मईणं (60)
पं.	मईअ, मईआ, मईइ मईए (26) मइत्तो, मईओ, मईउ, मईहिन्तो (53)	मईओ, मईउ, मईहिन्तो मईसुन्तो (14)
ष.	मईअ, मईआ मईइ, मईए (26)	मईण (4, 10, 50) मईणं (60)
स.	मईअ, मईआ, मईइ, मईए (26)	मईसु (14) मईसुं (60)
सं.	हे मई, हे मइ (30)	हे मईउ, हे मईओ, हे मई (59)

ईकारान्त स्त्रीलिंग (लच्छी)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	लच्छी (16) लच्छीआ (25)	लच्छीउ, लच्छीओ, लच्छीआ (24, 25) लच्छी (50, 2, 12)
द्वि.	लच्छि (28)	लच्छीउ, लच्छीओ, लच्छीआ (24, 25) लच्छी (15)
तृ.	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए (26)	लच्छीहि, लच्छीहिँ, लच्छीहिं (14)

च.	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए (26, 67)	लच्छीण (4, 10, 50, 57) लच्छीणं (60)
पं.	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए (26) लच्छित्तो, लच्छीओ, लच्छीइ, लच्छीहिन्तो (53)	लच्छित्तो, लच्छीओ, लच्छीउ, लच्छीहिन्तो, लच्छीसुन्तो (14)
ष.	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए (26)	लच्छीण (4, 10, 50) लच्छीणं (60)
स.	लच्छीअ, लच्छीआ, लच्छीइ, लच्छीए (26)	लच्छीसु (14) लच्छीसुं (60)
सं.	हे लच्छि (34)	हे लच्छीउ, हे लच्छीओ, हे लच्छीआ, हे लच्छी (59)

उकारान्त स्त्रीलिंग (धेणु)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	धेणू (16)	धेणूउ, धेणूओ (24) धेणू (50, 2, 12)
द्वि.	धेणुं (50) (3)	धेणूउ, धेणूओ (24) धेणू (15)
तृ.	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए (26)	धेणूहि, धेणूहिँ, धेणूहिं (14)
च.	धेणूअ, धेणूआ, धेणूई, धेणूए (26, 57)	धेणूण (4, 10, 50, 57) धेणूणं (60)
पं.	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ धेणूए (26) धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो (53)	धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूसुन्तो (14)
ष.	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए (26)	धेणूण (4, 10, 50) धेणूणं (60)
स.	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए (26)	धेणूसु (14) धेणूसुं (60)
सं.	हे धेणू, हे धेणु (30)	हे धेणूउ, हे धेणूओ, हे धेणू (59)

ऊकारान्त स्त्रीलिंग (बहू)

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	बहू (16)	बहूउ, बहूओ (24) बहू (50, 2, 12)
द्वि.	बहुं (20)	बहूउ, बहूओ (24) बहू (15)
तृ.	बहूअ, बहूआ बहूइ, बहूए (26)	बहूहि, बहूहिँ, बहूहिं (14)
च.	बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए (26, 57)	बहूण (4, 10, 50, 57) बहूणं (60)
पं.	बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए (26) बहुत्तो, बहूओ, बहूउ, बहूहिन्तो (53)	बहुत्तो, बहुओ, बहूउ, बहूहिन्तो, बहूसुन्तो (14)

ष. बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए (26)	बहूण (4, 10, 50) बहूणं (60)
स. बहूअ, बहूआ, बहूइ, बहूए (26)	बहूसु (14) बहूसुं (60)
सं. हे बहु (34)	हे बहूउ, हे बहूओ, हे बहू (59)

ऋकारान्त पुल्लिग (पितृ→ पिअर) (39)

पिअर के रूप अकारान्त पुल्लिग **देव** की तरह चलेंगे।

सं, हे पिअरं (32)

ऋकारान्त पुल्लिग विशेषण (कर्तृ → कत्तार) (37)

कत्तार के रूप अकारान्त पुल्लिग **देव** की तरह चलेंगे।

ऋकारान्त नपुंसकलिंग विशेषण (कर्तृ → कत्तार) (37)

कत्तार के रूप अकारान्त नपुंसकलिंग **कमल** की तरह चलेंगे।

ऋकारान्त (मातृ→ माआ और माअरा) (38)

माआ और माअरा के रूप आकारान्त **कहा** की तरह चलेंगे।

आत्मन्→ आत्म→ अप्प या अत्त (48)

एकवचन	**बहुवचन**
प्र. अप्पा (41)	अप्पा, अप्पाणो (42)
द्वि. अप्पं (50, 3)	अप्पा, अप्पाणो (42)
तृ. अप्पणा (43) अप्पाणिआ, अप्पणइआ (49)	अप्पेहि, अप्पेहिँ अप्पेहिं (50, 5)
च. अप्पणो (42, 57)	अप्पाण, अप्पाणं (50, 4, 60, 57)
पं. अप्पाणो (42)	अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहिं, अप्पाहिन्तो अप्पासुन्तो, अप्पेहि, अप्पेहिन्तो, अप्पेसुन्तो (50, 10, 11, 13)
ष. अप्पणो (42)	अप्पाण, अप्पाणं (50, 4, 60)
स. अप्पम्मि, अप्पे (50, 9)	अप्पेसु, अप्पेसुं (50, 13)
सं. हे अप्पा, हे अप्प (59)	हे अप्पा, हे अप्पाणो (50, 59)

नोट : (i) **अप्प** के रूप **देव** की तरह भी चलेंगे।

(ii) **अप्पाण** या **अत्ताण** (48) के रूप भी **देव** की तरह चलेंगे।

राजन्→ राज→ राअ→ राय (41)

एकवचन	**बहुवचन**
प्र. राया (41)	राया, रायाणो, राइणो (42)

द्वि.	राइणं (45)	राया, रायाणो, राइणो (42)
तृ.	राइणा, रण्ण (43)	राईहि, राईहिँ, राईहिं (46)
च.	राइणो, रायणो, रण्णो (42, 57)	राइणं, राईण, राईणं (45, 46, 60, 57)
पं.	राइणो, रण्णो, रायाणो (42)	राइत्तो, राईओ, राईउ, राईहिन्तो, राईसुन्तो (46)
ष.	राइणो, रायणो, रण्णो (42)	राइणं, राईण, राईणं (45, 46, 60)
स.	राइम्मि (44)	राईसु, राईसुं (46, 60)
सं.	हे राया, हे राय (30, 59)	हे राया, हे रायाणो, हे राइणो (59)

नोट– (i) **राय** या **राअ** के रूप **देव** की तरह भी चलेंगे।

(ii) **रायाण** या **राआाण** (3/56) के रूप भी **देव** की तरह चलेंगे।

इस अंक के सहयोगी रचनाकार

1. **डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'**—एम. ए., पीएच. डी. । गद्य-पद्य लेखक । रिसर्च एसोसिएट, हिन्दी विभाग, क. मु. भाषा विज्ञान एवं हिन्दी विद्यापीठ, आगरा । इस अंक में प्रकाशित निबन्ध–कविश्री जोइन्दु-व्यक्तित्व एवं कृतित्व । सम्पर्क सूत्र–मंगलकलश, 394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड़, अलीगढ़, 202001, उ. प्र. ।

2. **डॉ० कमलचंद सोगाणी**—बी. एससी., एम. ए., पीएच. डी. । नीतिशास्त्र, दर्शन एवं प्राच्य भाषाओं से सम्बन्धित शोध-निबन्ध एवं पुस्तकों के लेखक–सम्पादक । शैक्षणिक, धार्मिक व साहित्यिक रचनात्मक गतिविधियों में संलग्न । भूतपूर्व प्रोफेसर, दर्शनविभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर । इस अंक में प्रकाशित रचना—हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण सूत्र विवेचन । सम्पर्क सूत्र–H–7, चितरंजन मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001 ।

3. **डॉ० गदाधरसिंह**—एम. ए., पीएच. डी. । व्याख्याता, हिन्दी विभाग, ह. दा. जैन कॉलेज, आरा, बिहार । इस अंक में प्रकाशित निबन्ध—परमात्मप्रकाश एक विश्लेषण । सम्पर्क सूत्र–जापानी फॉर्म, मुहल्ला कतीरा, आरा, जिला भोजपुर, बिहार ।

4. **डॉ० (श्रीमती) पुष्पलता जैन**—एम. ए. (द्वय), पीएच. डी. (द्वय) । लेखिका । प्रवक्ता, एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर । इस अंक में प्रकाशित रचना–अध्यात्मसाधक योगीन्दु और कबीर । सम्पर्क सूत्र—न्यू एक्सटेंशन, सदर, नागपुर, महाराष्ट्र ।

5. **पं. भंवरलाल पोल्याका**—साहित्यशास्त्री, आचार्य (जैनदर्शन) । सम्पादक, लेखक एवं समालोचक । पांडुलिपि सर्वेक्षक, जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, जयपुर । इस

अंक में प्रकाशित रचना–योगसार का योग । सम्पर्क सूत्र–566, जोशीभवन के सामने, मणिहारों का रास्ता, जयपुर–302003 ।

6. **डॉ० भागचन्द 'भास्कर'**—एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्, साहित्याचार्य । पालि-प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ । अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर । इस अंक में प्रकाशित रचना—योगीन्दुदेव और हिन्दी सन्त परम्परा । सम्पर्क सूत्र-न्यू एक्सटेंशन, सदर, नागपुर, महाराष्ट्र ।

7. **डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**—एम. ए., पीएच. डी., डी लिट्., साहित्यालंकार, विद्या-वारिधि । कुशलवक्ता, लेखक एवं सम्पादक । शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक रचनात्मक गतिविधियों में संलग्न । मानद संचालक–जैन शोध अकादमी, अलीगढ़ । इस अंक में प्रकाशित रचना–कविमनीषी योगीन्दु का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन । सम्पर्क सूत्र–मंगलकलश, 394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़–202001, उ. प्र. ।

8. **श्री राजीव प्रचण्डिया**—बी. एससी., एल. एल. बी. । एडवोकेट । जैन विधि-विधान (कानून) में शोधरत । लेखक एवं संपादक । इस अंक में प्रकाशित रचना–जोइन्दु की परमात्माविषयक धारणा । सम्पर्क सूत्र–मंगलकलश, 394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़–202001, उ. प्र. ।

9. **श्री सुदीप जैन**—व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली । इस अंक में प्रकाशित रचना–जोइन्दु और अमृताशीति । सम्पर्क सूत्र–जैनदर्शन विभाग, लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ।

10. **श्री श्रेयांश सिंघई**—शास्त्री, आचार्य (जैनदर्शन) । लेखक । प्रवक्ता, जैनदर्शन विभाग केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर । इस अंक में प्रकाशित रचना–परमप्पयासु में बंध-मोक्ष सम्बन्धी विचार । सम्पर्क सूत्र–5/47, मालवीय नगर, जयपुर–302017 ।

11. **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव**—एम. ए. (त्रय), आचार्य (पालि, जैनदर्शन, साहित्य, पुराण एवं आयुर्वेद), साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पीएच. डी. । लेखक एवं सम्पादक । भूतपूर्व शोध उपनिदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार । इस अंक में प्रकाशित रचना–कविमनीषी जोइंदु का आध्यात्मिक शिखरकाव्य परमात्मप्रकाश । सम्पर्क सूत्र–पी. एन. सिन्हा कॉलोनी, भिखना पहाड़ी, पटना 800006, बिहार ।

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी ।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा ।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा । स्वभावतः तथ्यों की प्रमाणिकता आदि का उत्तर-दायित्व रचनाकार का रहेगा ।
4. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिये ।
5. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता—

सम्पादक
जैनविद्या
महावीर भवन
सवाई मानसिंह हाइवे
जयपुर–302003

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) की प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए रु. 5,001/- (पांच हजार एक) का पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना—

योजना के नियम—

1. जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि में लिखी गई सृजनात्मक कृति पर 'महावीर पुरस्कार' दिया जायगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जायगा।
2. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनों प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की जा सकती हैं। यदि कृति प्रकाशित हो तो यह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिये।
3. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियां लेखक/प्रकाशक को सयोजक, जैन विद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
4. अप्रकाशित कृति की प्रतियां स्पष्ट टंकण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हों तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
5. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियों का मूल्यांकन विशिष्ट विद्वानों/निर्णायकों के द्वारा कराया जायगा, जिनका मनोनयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। इन विद्वानों/निर्णायकों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जायगा।
6. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पांच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रशस्तिपत्र के साथ प्रदान किया जायगा। एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमें समान रूप से वितरित कर दी जायगी।
7. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जायगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख साभार होना चाहिये।
9. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जायगा।
10. उपर्युक्त नियमों में आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी कमेटी को होगा।

संयोजक कार्यालय :
महावीर भवन,
एस. एम. एस. हाइवे
जयपुर–302003

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1–5.	राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची—प्रथम एवं द्वितीय भाग—	अप्राप्य
	तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भाग	
	संपादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ	170.00
6.	जैन ग्रंथ भंडार्स इन राजस्थान (शोध प्रबन्ध)—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	50.00
7.	प्रशस्ति संग्रह—संपादक-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	अप्राप्य
8.	राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	20.00
9.	महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	
	—डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल	20.00
10.	जैन शोध और समीक्षा—डॉ. प्रेमसागर जैन	20.00
11.	जिणदत्तचरित—संपादक–डॉ. माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ. क. च. कासलीवाल	12.00
12.	प्रद्युम्नचरित—संपादक–पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ व डॉ. क.च. कासलीवाल	12.00
13.	हिन्दी पद संग्रह—संपादक–डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	अप्राप्य
14.	सर्वार्थसिद्धिसार–संपादक–पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ	10.00
15.	चम्पाशतक—संपादक–डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	6.00
16.	तामिल भाषा का जैन साहित्य—संपादक–पं. भंवरलाल पोल्याका	अप्राप्य
17.	वचनदूतम्—(पूर्वार्द्ध एवं उत्तार्द्ध)—पं. मूलचन्द शास्त्री	प्रत्येक 10.00
18.	तीर्थंकर वर्धमान महावीर—पं पद्मचन्द शास्त्री	10.00
19.	पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ	50.00
20.	बाहुबलि (खण्डकाव्य)–पं अनूपचन्द न्यायतीर्थ	10.00
21	योगानुशीलन—श्री कैलाशचन्द बाढ़दार	75.00
22.	ए की टू ट्रू हैपीनैस—बै. चम्पतराय	अप्राप्य
23.	चूनड़िया–मुनिश्री विनयचन्द्र, अनु.–पं. भंवरलाल पोल्याका	1.00
24.	आणंदा—श्री महानंदिदेव. अनु.–डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	5.00
25.	णेमीसुर की जयमाल और पाण्डे की जयमाल—मुनि कनककीर्ति एवं	
	कवि नण्हु, अनु.–पं. भंवरलाल पोल्याका	2.00
26.	समाधि—मुनि चरित्रसेन, अनु.–पं. भंवरलाल पोल्याका	4.00
27.	बुद्धिरसायण ओणमचरितु—कवि नेमिप्रसाद, अनु –पं भंवरलाल पोल्याका	5.00
28.	कातन्त्ररूपमाला—भावसेन त्रैविद्यदेव	12.00
29.	बोधकथा मञ्जरी—श्री नेमीचन्द पटोरिया	12.00
30.	मृत्यु जीवन का अन्त नहीं—डॉ. श्यामराम व्यास	5.00
31.	पुराणसूक्तिकोष	15.00
32.	वर्धमानचम्पू—पं. मूलचन्द शास्त्री	25.00
33.	चेतना का रूपान्तर—ब्र. कु. कौशल	15.00
34.	आचार्य कुन्दकुन्द—पं. भंवरलाल पोल्याका	2.00